कृती कवि श्री सुमित्रानदन पत

को

जिनकी परिपूर्ति के वर्षों ने नूतन किसलय-

सुमनों में नव-नव अवतार लेने वाले

पल्लवों के समान झरकर

सार्थकता पाई है

सूची

अनुक्रमणिका

वह अनेक युगो के अनेक तत्वचिन्तक ज्ञानियो और क्रान्तदृष्टा कवियो की स्वानुभूतियो का सघात है। मनुष्य की प्रज्ञा की जैसी विविधता और उसके हृदय की जैसी रागात्मक समृद्धि वेद साहित्य मे प्राप्त है, वह मनुष्य को न एकागी दृष्टि दे सकती है न अन्धविश्वास।

आकाश के अखण्ड विस्तार मे केन्द्रित दृष्टि के लिए घट की सीमा मे प्रतिविम्बित आकाश ही अन्तिम सत्य कैसे हो सकता है!

वेदमनीपा नेति नेति कह कर जिसकी अनन्तता स्वीकार करती है उसी की सीमा निश्चित करने की भूल उससे सम्भव नही। पर वह ज्ञान-राशि ऐसा समुद्र है, जिसके तट पर बालको को शख घोघे मिल सकते है, तैरना न जानने वाले को छिछला जल सुलभ है, गहराई मे पहुँचकर आखें खोलने वाले को मोती प्राप्त हो सकता है और अपने भार मे डूबने वाले विशालकाय जहाजो का चिह्नशेप नही रहता। पर न घोघे की उपलब्धि से समुद्र मूल्यरहित हो जाता है और न मोती से महार्घ। न तट पर गहराई का अभाव उसे तुच्छ प्रमाणित कर सकता है और न मँझधार के अतल जल पर ही उसकी महत्ता निर्भर है। वस्तुत इन विविधताओ को एक अखण्ड पीठिका देने वाली क्षमता ही उसकी महिमा का कारण है।

अवश्य ही हमारे और इस वृहत् जीवन-कोष के बीच समय का पाट इतना चौडा और गहरा हो गया है कि उस तट के एक स्वर, एक सकेत को भी हम तक पहुँचने के क्रम मे अनेक भूमिकायें पार करनी पडी हैं।

वेद-साहित्य के निर्माण काल के सम्बन्ध मे इतना अधिक मतभेद है कि जिज्ञासु का किकर्तव्यविमूढ हो जाना ही स्वाभाविक है। विविध मतवादियो ने, मानव-मनीपा की इस आश्चर्य-कथा का रचनाकाल दो हजार वर्ष ईसा पूर्व से लेकर पन्द्रह हजार वर्ष ईसा पूर्व तक फैला दिया है और वे अपने अपने मत के समर्थन मे जो तर्क उपस्थित करते हैं वे उन वर्षो की सख्या से भी अधिक है।

हमारे शोध के मापदण्ड इतिहास के है, अत इतिहास की सीमा मे अनन्त दूरी रखने वाले युग यदि उनकी सीमा के बाहर हो तो आश्चर्य नही।

आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने मे कितना समय लगता है, अन्तरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम मे कितने समय मे पूर्ण होती है, यह जानने मे समर्थ विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नही कर सका है कि मानवीय विचार और सवेदन का, एक युग से दूसरे मे सक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है। पर वर्षो की सख्या और इतिहास की ऊहापोह के

ायगा, जिससे मानव-बुद्धि और उसका हृदय, विविध विचार और भावनाओ ो जीवन-रस पहुँचाता रहा है।

ऋग्वेद ऋक् या छन्दस् का सग्रह है जिसके दस मण्डलो मे १०१७ के लगभग ्क्त और १०६०० के लगभग मन्त्र उपलब्ध है, जो कथ्य की मौलिकता की दृष्टि ा तो महार्घ हैं ही, भाषा, शैली, छन्द और चमत्कारिक उक्तियो के कारण भी ानव-जाति का महत्वपूर्ण उत्तराधिकार है।

यजुष् मे मन्त्र और ब्राह्मण अश अर्थात् छन्द और गद्य यज्ञविषयक कर्म वधान को दृष्टि मे रख कर सग्रहीत किये गए हैं। अत इसके ४० अध्यायो और ९९० के लगभग मन्त्र सख्या मे विविध यज्ञ-अनुष्ठान मे प्रयुक्त होने वाले मन्त्रो ौर उनकी सफलता के लिए निश्चित विधि-विधान ही समाविष्ट है।

साम, जिसका पर्याय प्रीतिकर भी होता है, गेय मन्त्र-समूह है, जिसके १६४९ न्त्रो मे से ७८ नवीन मन्त्रो के अतिरिक्त शेष मन्त्र ऋग्वेदीय ही हैं। गेय ऋक् ा गान ही साम है।

प्रथम यही त्रयी वेद अभिधान के अन्तर्गत आती रही, पर अन्त मे अथर्व ने ेद सज्ञा से अभिहित होकर वेद सहिताओ को चतुर्मुखी कर दिया।

अथर्व मे ऋग्वेद के कुछ ऋक् अवश्य हैं, परन्तु उसके गद्यपद्यो मे सग्रहीत वषय, अपनी नूतनता के कारण अन्य वेद-सहिताओ मे सग्रहीत सामग्री से भिन्न है। त्व-चिन्तन की ऊँचाई से तन्त्र-मन्त्र-अभिचार के गर्त तक सब कुछ उसमे सहज ाप्त है, मानो मनुष्य के ज्ञान और अन्धविश्वास मे स्थायी सन्धि हो गई हो। जीवन के व्यावहारिक और अलौकिक पक्ष, वनस्पति, ओषधि, धरती, अन्तरिक्ष, राष्ट्र समष्टि, व्यष्टि आदि से सम्बन्ध रखने वाला इतना विविध ज्ञान-विज्ञान उसमे सग्रहीत है कि उसका तत्वत परीक्षण और मूल्याकन, युगो का अवकाश और पीढियो का आयास चाहता है।

ऋक् का मडलो, अनुवाको, सूक्तो और मत्रो मे विभाजन, तत्कालीन चिन्तको की दूरदृष्टि और सत्य को अक्षुण्ण रखने के सकल्प का परिचायक है।

सत्य निर्मित नही किया जाता, उसे साधना मे उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना मे जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरो तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि का सचालन करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है।

पर मयूर नाचते है, चातक पुकारते है, बगुले उडते हैं। पर ग्रीष्म से झुलसे वातावरण मे यह हर्षाकुलता, यह सगीत-नृत्य समाप्त हो जाता है।

मनुष्य के पास बाह्य जगत के समान एक सचेतन अन्तर्जगत भी है, अत उसका सौन्दर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामजस्य पर प्रसन्न नही होता, वरन् विचार, भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अन्तर्जगत का सामजस्य बाह्य जगत मे अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्य जगत का सामजस्य अन्तर्जगत मे अपनी प्रतिच्छवि आकना चाहता है।

वेद काल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नही, आत्मा का अथक शिल्पी भी है। प्रकृति मे उसका सौन्दर्य-दर्शन केवल कोमल मधुर तत्वो तक ही सीमित नही है, वरन् वह उग्र और रुद्र रूपो मे भी आकर्षण का अनुभव करता है। जिस तूलिका से वह अपने पार्थिव परिवेश को उज्ज्वल रेखाओ और इन्द्रधनुषी रगो मे चित्रमयता देता है, उसी से अपने अन्तर्जगत मे मगल सकल्पो को अजर मूर्तिमत्ता प्रदान करता है। उसकी जिस तुला पर ज्ञान की गरिमा तुलती है, उसी पर कर्म-पथ पर पडे प्रत्येक पग का मूल्य निश्चित होता है। उषा की दीप्त छवि अकित करने मे जिस कुशलता का उपयोग हुआ है, वही नासदीय सूक्त मे जिज्ञासाओ को सार्थक वाणी दे सकी है। जिस भक्तिजनित तन्मयता से वह ऋत् के रक्षक वरुण की वन्दना करता है, उसी के साथ इन्द्र के वज्र-निर्घोष के आह्वान मे प्रवृत्त होता है। अपने आपको 'पृथिवीपुत्र' की सज्ञा देकर वह धरती के वरदानो को जैसा आदर देता है, 'आत्मा का विनाश नही होता' स्वीकार कर वह अखण्ड चेतना के प्रति भी वैसा ही विश्वास प्रकट करता है। किसी अन्य युग के काव्य मे जिन्हे स्थान मिलना कठिन है, उन विषयो को भी छन्दायित करने मे ऋषि की प्रतिभा कुण्ठित नही हुई। उलूक, दादुर, ऊखल, श्वान आदि ऐसे ही विषय है।

जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलत और लक्ष्यत सामजस्य-वादिनी ही होती है। वेद साहित्य मे आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी मे व्याप्त शक्तियो को जो देवत्व प्राप्त हुआ है उसमे भी एक विशेष तारतम्यता का सौन्दर्य मिलता है।

सूर्य, उषा, वरुण आदि आकाश मे सबसे ऊँची स्थिति रखने के कारण सृष्टि का नियमन और सचालन करते हैं। वायु-मडल मे स्थिति रखने वाले इन्द्र, मरुत

आदि उथल पुथल उत्पन्न करके भी जल-वृष्टि से पृथ्वी को उर्वर बनाते हैं। अग्नि और सोम की पृथ्वी पर इतनी उपयोगी स्थिति थी कि वे पृथ्वी के ही देव मान लिए गए।

यह देवताओं की अनेकता धीरे धीरे एक केन्द्र-बिन्दु में समाहित हो गई, परन्तु वेदकालीन चिन्तक की जिज्ञासा किसी एक व्यक्तिगत देव तक पहुँचकर रुकनेवाली नही थी। अत इस अनेकता का विलय एक अखण्ड व्यापक चेतना मे उसी प्रकार हो गया जैसे विभिन्न तरग, बुद्बुद् आदि समुद्र मे बनकर उसी मे विलीन हो जाते हैं।

इन देवताओ और प्रकृति पर आरोपित चेतना खण्डो की कल्पना को, वैदिक कवि ने सौन्दर्य की जिन रेखाओ मे बाँधा है वे तत्वत भारतीय हैं। उनका अपने परिवेश से अविच्छिन्न सम्बन्ध ही उनकी सर्वमान्यता का कारण है। खण्ड सौन्दर्य को विराट की पीठिका पर रखकर देखने का सस्कार गहरा है, अत देवत्व से अभिषिक्त न होने पर भी वे खण्ड अपनी स्वत दीप्ति से दीपित हो उठते हैं। पृथ्वी, नदी, अरण्य आदि अपनी सत्ता विशेष के कारण ही जीवन के सहचर और किसी व्यापक अखण्ड के अग भूत रहकर सार्थकता पाते हैं। वैदिक चिन्तक की तत्व-स्पर्शी दृष्टि, सृष्टि की असीम विविधता को पार कर एक तत्वगत सूत्र खोज लेती है।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुष ।
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(पुरुष सूक्त)

यह सब उसकी महिमा है, पुरुष इससे बडा है। विश्वभूत इसका एक पाद (अश) है, इसके अमृत त्रिपात (तीन अंग) दिव्य लोक मे अवस्थित हैं।

पर यह सूक्ष्म दृष्टि उनकी हार्दिकता को नहीं भेदती, इसी से वह अरण्य को ममता से सम्बोधित करता है —

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथ ग्राम पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतिम्॥

(अरण्यानी सूक्त)

हे अरण्यानी (वन) तुम देखते देखते अन्तर्हित होकर इतनी दूर चली जाती हो कि दृष्टिगत नही होती। तुम क्यो ग्राम मे जाने का पथ पूछती हो ? क्या एकाकीपन से तुम सभीत नही होती ?

आञ्जनगन्धि सुरभि बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राह मृगाणा मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥

मृगनाभि के समान अरण्यानी का सौरभ है। वहाँ आहार है, पर कृषि का अभाव है। वह मृगो के लिए माता है। इस प्रकार मैं अरण्यानी का स्तवन करता हूँ।

नासदीय सूक्त मे जिज्ञासा, जीवन की विविध रूपात्मकता के सौन्दर्य पर दृष्टि-निक्षेप न करके प्रश्नो और अनुमानो की गम्भीरता मे व्यक्त होती है —

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत।
किमावरीव कुहकस्य शर्मन्नम्भ किमासीद् गहन गभरम्॥

उस समय न असत् था न सत् था। पृथ्वी भी नही थी और आकाश भी नही था। तब इस आवरण (जगत) की स्थिति कहाँ थी ? किसकी कहाँ स्थिति थी ? क्या तब केवल गहन गम्भीर जल था ?

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत।
आसीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न पर किञ्चनास॥

उस समय न मृत्यु थी न अमरता। रात और दिन का भेद भी अज्ञात था। वायु के अभाव मे अपने आत्मावलम्बन मे श्वास प्रश्वास लेता हुआ केवल एक तत्व (ब्रह्म) था, उसके अतिरिक्त कुछ नही था।

पर यही वीतरागता दिवस के आगमन की सूचना देने वाली किरणो को रागारुण कर उन्हे चेतन व्यक्तित्व और सौन्दर्य का परिधान देकर मुग्ध भाव मे परिवर्तित हो जाती है —

वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि।
उप प्रारन्नृतूरनु दिवोऽन्तेभ्यस्परि॥

हे उज्ज्वलवर्णा! हे उपा! तुम्हारे आगमन के साथ ही सब द्विपद, चतुष्पद और पख वाले खग आकाश मण्डल के नीचे अपने अपने कार्य मे लग जाते है।

एता उत्या उषस केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजतो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णव प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातर.॥

उपाओ ने आलोक फैला दिया है। वे प्रथम पूर्व दिगाकाश को आलोकित करती हैं। वीर जैसे अपने आयुधो का परिमार्जन कर उन्हे उज्ज्वल बनाते हैं उसी प्रकार अपने तेज मे ससार का परिमार्जन कर गतिशील और तेजोमयी उपा मातायें प्रतिदिन चली जाती हैं।

वेद साहित्य की चिन्तन-पद्धति ने यदि भारतीय चिन्तन को दिशा ज्ञान दिया है तो उसकी रागात्मक अनुभूति ने भावी युगो की काव्य-कलाओ मे स्पन्दन जगाया है। प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध, उस पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, रहस्य को व्यक्त करनेवाली जटिल उक्तिया, भक्तिजनित आत्म-निवेदन आदि बिना कोई सस्कार छोडे हुए अन्तर्हित हो गए, यह समझना मानव-चेतना की सश्लिष्टता पर अविश्वास करना होगा।

यह अनुभव-सिद्ध है कि भापा की परम्परा और पुस्तकीय ज्ञान का क्रम टूट जाने पर भी मनुष्य की बुद्धि और उसका हृदय, पूर्व सस्कारो का दाय सुरक्षित रखने मे समर्थ है। सस्कृति इसी रक्षा का पर्याय है और इसी कारण लिखित शास्त्रीय ज्ञान से अपरिचित भारतीय ग्रामीण, नागरिक से अधिक सस्कृत कहा जायगा। वैदिक कालीन सस्कार निधि भी इसी प्रकार सुरक्षित रही हो तो आश्चर्य नही।

वेद काल के पट परिवर्तन मे हमारी दृष्टि जिस कवि मनीषी और उसकी कृति पर पडती है उन्हे भारतीय प्रतिभा ने आदि कवि और आदि काव्य की सार्थक सज्ञायें दी है। आर्ष वाणी का अनुगमन करनेवाली, व्याकरण नियमो से सयमित हो कर भी स्वच्छन्द सस्कृत भापा का प्रथम काव्य तो वह है ही, पर कथ्य की दृष्टि से भी उसकी विशेषता मौलिक कही जायगी। उसमें प्रथम बार मानव ने देवताओ को सिंहासनच्युत कर दिया है। अब मानव अपने

सकट काल मे देवताओ का आह्वान न करके अस्त्र उठाता है और देवो के सख्य की उपेक्षा कर अपने पराक्रम और कर्तव्य को जीवन-सगी का आदर देता है।

ऐसी मानव गाथा का उद्गाता कवि अपने विद्रोह मे भी पहला कहा जायगा। उसके हृदय मे कथा की प्रेरणा, किसी समाधि-स्थिति से नहीं उद्भूत हुई, वरन् वह एक लघुकाय, अल्पप्राण पक्षी की वेदना से नि सृत हुई है।

हमारे नरमेध, गोमेध, अश्वमेध आदि के महारव से भरे हुए कर्णरन्ध्रो मे जब क्षुद्र क्रौञ्च की दीन क्रन्दन ध्वनि प्रवेश पा लेती है तब हम चौक उठते हैं। कैसे इस लघु आंसू की बूंद को दु ख के महासागर की समानता करने का साहस हुआ ? पर जब हम क्षणिक क्रन्दन के इसी अस्फुट स्वर से किसी वीतराग ऋषि की प्रतिभा को जागते और अमर सृजन करते देखते है, तब हमारा हृदय उक्त घटना की अभूतपूर्वता निर्विवाद स्वीकार कर लेता है। क्रौंच के शोक से तादात्म्य करके ऋषि को आदि कवि की पदवी और श्लोक की छन्दमयता ही नही प्राप्त हुई उससे उन्हे मानव-जीवन के महागीत के लिए स्वर, लय और ताल खोजने की प्रेरणा भी मिली।

रामायणकाल तक कर्म-परम्परा, नियतिवाद, स्वर्ग-नरक आदि की रेखाये निश्चित और कठिन हो चुकी थी। वेदकालीन देव सृष्टि मे कई प्रलय आ चुके थे। कुछ देव शक्तियां लुप्त हो चुकी थी, कुछ देवो के रूप परिवर्तन हो चुके थे, कुछ आर्य देवता अनार्य देवताओ से एकाकार होकर तीसरे रूप मे अवतीर्ण हो चुके थे। साराश यह कि जीवन का रगमच एक प्रकार से शून्य था। आदि कवि ने इस पर मनुष्य को अवतीर्ण ही नही किया, उसे ऐसी भूमिका मे अवतीर्ण किया, जिसने लोक हृदय से देवताओ का मोह ही समाप्त कर दिया। और तब उन स्वर्ग निवासियो का उपयोग, मनुष्य की पार्श्वच्छवि के रूप मे ही रह गया।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि आदि कवि ने सब दृष्टियो से पूर्णतम अतिमानव की कल्पना की है। रामायण के नायक राम का व्यक्तित्व सुन्दर, शील लोकोत्तर, कर्म लोक-मगल विधायक और पराक्रम अजेय है, परन्तु उनकी मानव सुलभ अपूर्णताये और दुर्बलताये भी कवि के दृष्टिपथ मे रहती है। न वे राम के अनन्य भक्त कहे जा सकते है और न उनके काव्य का लक्ष्य इष्ट की अर्चना वन्दना मात्र है। उनकी यथार्थवादिनी मर्मभेदिनी दृष्टि वेदकालीन ऋषि की दृष्टि से भी भिन्न है और मध्ययुगीन भक्त की दृष्टि से भी, क्योकि सामान्यत एक मे जीवन के विविध अभावो की पूर्ति के लिए देव या देव समूह की प्रसन्नता की अपेक्षा

रहती है और दूसरी मे भवसागर-सतरण के लिए इष्ट के अनुग्रह की याचना। वाल्मीकि की चेतना मनुष्य की विजय-घोषणा के लिए एक ऐसे श्रेष्ठ मानव की उद्भावना करती है, जिससे अपने लिए उसे किसी लौकिक या पारलौकिक दान की न अपेक्षा है न आवश्यकता।

यह सत्य है कि इस अमर कृति के बाल और उत्तर काण्डो मे राम मे विष्णु के अवतरित होने के सकेत स्पष्ट हैं, परन्तु उन अशो को रामायण का मौलिक अश मानने के मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ हैं। रामायण के रूप मे राम-गाथा मूलत कुशीलवो या सूतो द्वारा गाई जाती थी, अत दीर्घकाल तक उसका कण्ठ से कण्ठ मे सचरण होता रहा। यज्ञ विधान या देवाह्वान उसका लक्ष्य न होने के कारण, वेद मन्त्रो के समान, उसके वर्ण, ध्वनि, पाठ आदि की सुरक्षा और शुद्धता भी सम्भव नही थी। लोक हृदय के अनुरजन का लक्ष्य रखनेवाली इस श्रेष्ठ मानव-कथा से लोक की ऐसी आत्मीयता स्वाभाविक कही जायगी, जिसके कारण वह कवि की रचना को अपनी भी कृति समझ लेता है और उस पर अपनी भावना का रग चढाने मे सकोच नही करता। आज भी अनेक लोक-प्रचलित गाथाये इस सत्य का प्रमाण हैं। लिपिबद्ध होने तक रामायण मे कुछ प्रक्षिप्ताश सम्मिलित हो गए हो तो आश्चर्य नही।

जिन दो काण्डो मे अवतार का उल्लेख है वे शेष रचना से, वर्णन, शैली आदि की दृष्टि से कुछ भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त समस्त रचना मे व्याप्त कवि के अभिप्राय से भी यही सिद्ध होता है कि वे राम कथा से मनुष्य की श्रेष्ठता और महत्ता को वाणी देना चाहते हैं।

जिसने वेद-छन्दो की अतुल सम्पत्ति का उपयोग न करके नवीन छन्द का आविष्कार किया, असख्य दिव्य आख्यानो की उपस्थिति मे मनुष्य के जीवन-सघर्ष को अपना विषय बनाया, उसकी मौलिकता, मनुष्य को अपने विवेक और पराक्रम से ही पूर्णता का अधिकार दिलाने मे है।

इस विद्रोही आदि कवि का जीवनवृत्त और रचनाकाल अन्य प्राचीन स्रष्टाओ के जीवन और सृजनकाल के समान ही अनुमान-क्षेत्र तक सीमित है। किवदन्तियाँ यद्यपि कवि को प्रारम्भिक जीवन मे, भीमकर्मा और निष्ठुर व्याध या दस्यु के रूप मे चित्रित करती हैं, जिसने नारद के उपदेश से परिवर्तित होकर ऐसा कठिन तप किया कि उसके शरीर पर दीमको ने वल्मीक बना लिये। तपश्चरण के अन्त मे इस स्थिति से निकलने पर उन्हे वाल्मीकि का नाम मिला जो आदि कवि की

दृष्टि और हार्दिकता के अभाव मे एक स्थिति तक पहुँच कर सस्कृत काव्यो के प्राकृतिक वर्णन अप्राकृतिक और विचित्रताओ के कौतुकागार हो गए।

वाल्मीकि की प्रकृति अपने लघुतम रूप मे भी स्पन्दित व्यक्तित्व रखती है। कवि यदि उसके वसन्त वैभव पर मुग्ध होता है तो उसके हिम कुहरावृत्त रूप मे भी आकर्पण पाता है।

मत्त कोकिल सन्नादैर्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकन्दर निष्क्रान्त प्रगीत इव चानिल ॥

तेन विक्षिपतात्यर्यं पवनेन समन्तत ।
अमी ससक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपा ॥

सुपुष्पितास्तु पश्यैतान् कर्णिकारान् समन्तत ।
हाटक प्रतिसछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव ॥

गिरि-कन्दराओ से निकलता हुआ ध्वनि युक्त पवन मानो मत्त कोकिल की कूक के ताल पर गाता हुआ वृक्षो को नचा रहा है।

उस पवन मे प्रकम्पित वृक्ष एक दूसरे की शाखाओ से शाखाओ के उलझ जाने के कारण परस्पर गुथे हुए से दिखाई देते है।

इन पुष्पित कर्णिकार (कनेर) वृक्षो को देखो जो स्वर्णाभरणो से युक्त और पीताम्वर पहने हुए पुरुप जैसे लगते है।

वाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यव गोधूम वन्ति च।
शोभन्तेऽभ्युदिने सूर्ये नदद्भि क्रौञ्चसारसे ॥

अवश्याय निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनाना शोभते भूमि निविष्टतरुणातपा ॥

स्पृशन् सुविपुल शीतमुदक द्विरद सुखम् ॥
अत्यन्त तृषितो वन्य प्रति सहरते करम् ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिण ।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ॥

: कोहरे से ढके हुए वन, जिनमे जौ और गेहूँ के खेत हैं, सूर्योदय के समय बोलते हुए क्रौञ्च और सारस पक्षियो से शोभित हो रहे हैं।

ओस से गीली घास से युक्त वनभूमि जिस पर सूर्योदय की धूप फैली हुई है, शोभित होती है।

अत्यन्त तृषित वन्य गज अत्यन्त ठंढे जल का स्पर्श करता है, फिर जल्दी से सूंड को हटा लेता है।

ये बैठे हुए जलचर पक्षी शीत से ठंढे जल मे वैसे ही प्रवेश नहीं कर रहे हैं जैसे कायर युद्ध मे प्रवेश नहीं करते।

जिस मनोयोग से कवि ने वर्षा मे प्रकृति की सजल श्यामलता को चित्रमयता दी है, उसी एकाग्रता से उसने शरद की उज्ज्वल रेखायें अंकित की हैं।

क्वचित्प्रकाश क्वचिदप्रकाश नभ प्रकीर्णाम्बुधर विभाति।
क्वचित्क्वचित्पर्वतसंनिरुद्ध रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैः नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयात शैलापगा शीघ्रतरं वहन्ति॥

रसाकुल षट्पद सन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफल प्रकामम्।
अनेक वर्ण पवनावधूत भूमौ पतत्याम्रफल विपक्वम्॥

बालेन्द्रगोपान्तर चित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुक प्रभेण नारीव लाक्षोक्षित कम्बलेन॥

कहीं प्रकाशयुक्त कहीं अन्धकारयुक्त मेघो से भरा आकाश ऐसी शोभा पा रहा है मानो शान्त महासमुद्र हो जिसका दृश्य कहीं कहीं पर्वतो से अवरुद्ध हो गया है।

जिनका नया जल सर्ज और कदम्ब के फूलो से मिश्रित और पर्वत से बहकर आती हुई गेरु से लाल है तथा जिनके आसपास मयूर बोल रहे हैं, वे पर्वतीय नदियाँ तीव्र वेग से बह रही हैं।

रस से पूर्ण और भ्रमर के समान काले जामुन फल खाये जा रहे हैं और पवन से हिलाये हुए अनेक वर्ण के पके रसाल धरती पर गिर रहे हैं।

विशालता मे व्यक्ति उसी प्रकार खो जाता है जैसे समुद्र के विस्तार मे तरग। सम्पूर्ण समुद्र तरग के बनने मिटने के लिए हो सकता है, पर रहेगा तो वह समुद्र ही। बुद्ध के प्रवचन, बौद्ध सघ, बौद्ध धर्म, बौद्ध दर्शन आदि की विशाल परिधि मे एक व्यक्ति के हर्ष-विषाद की कथा रह कर भी दृष्टि को नही खीच पाती। उस विराट भाव मे मनुष्य का लघु मन कब और कैसे अपने अभाव की आशका मे मुखर हो उठा, यह कहना कठिन है, परन्तु उस मुखरता से ही हमे कुछ करुणमधुर गीतो की उपलब्धि हुई है। और ये मुखर हो उठने वाले हृदय कितने विविध है! कोई राजकुमार है कोई दासीपुत्र, कोई ब्राह्मण है कोई शूद्र, कोई साध्वी है कोई नगरवधू, कोई महिषी है कोई क्रीत सेविका। कोई प्रिय पत्नी से वियुक्त है, कोई माता पिता से। कोई स्वय समाज की उपेक्षा कर आया है, कोई समाज द्वारा निष्कासित है। कोई विलास-वैभव की एकरसता मे थक कर आया है, कोई कठोर परिश्रम की विविध चोटो से आहत होकर। साराश यह कि विविध वर्ण, परिवार और परिस्थितियो के भुक्तभोगी इन छन्दो मे अपनी कथायें गूंथते है।

यह अनुमान सहज है कि आरम्भ मे इन गाथाओ की सख्या कम रही होगी और इनका लक्ष्य प्रवचन-मात्र रहा होगा। यह भी सम्भव है कि मूल रचयिताओ के अतिरिक्त अन्य भिक्षु भिक्षुणियो ने इन्हे दोहराया तिहराया हो और अनेक आवृत्तियो के क्रम मे इनमे नए स्वर जुड गए हो। पर ऐसी सम्भावनाये रहने पर भी ये गाथायें भिक्षु भिक्षुणियो के अन्तर्जगत, सुख-दुख, आनन्द-विषाद, बन्धन-मुक्ति आदि के ऐसे मार्मिक और विश्वसनीय चित्र देती है कि इनके रचयिताओ को खोज लेना सहज हो जाता है।

जो राज्य-सुख छोडकर आया है वह अपरिग्रह को अधिक महत्व देता है, जो कठोर श्रम करके आया है वह श्रमिक जीवन की वेदना के विषय मे अधिक कहता है। जो उच्च वर्ण से सम्बद्ध है वह ज्ञान और तप की विशेषता की चर्चा अधिक करता है, जो शूद्र कुल से आया है वह समानता को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। जो दास रह चुका है वह मुक्ति की अधिक प्रशस्ति करता है, जो स्वामी रह चुका है वह पर-पीडन की अधिक निन्दा करता है। इस प्रकार इन गाथाओ मे हमे तत्कालीन सामाजिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि का जैसा परिचय और उसमे पोषित मानव-जीवन का जैसा चित्र प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र नही मिलता।

जिन भिक्षु-भिक्षुणियो के गीत उपलब्ध है, उनकी सख्या क्रमश २६८ और ७२ के लगभग है।

स्तुतिपरक और दिव्यज्ञानसम्भूत वेद-गीतो से ये भिन्न कहे जायेंगे, परन्तु ज्ञान की महिमा, जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि के मर्मगीत तथा प्रकृति के प्रति रागात्मकता के कारण ये तत्वत वेदगीतो के निकट पहुँचते हैं।

जीवन और मृत्यु के प्रति वीतरागता तथा सयम मे निष्ठा तो उनके अपरिग्रही स्वभाव की शपथ है —

मरणे मे भय नत्थि निकन्ती नत्थि जीविते।
सन्देह निक्खिपिस्सामि समाजानो पतिस्सतो' ति॥

न मुझे मृत्यु से भय है न जीवन से। मैं इस पचतत्व के सघात को, सयमित चेतना मे जाग्रत अन्त करण के साथ त्याग सकता हूँ।

उदक नयन्ति नेत्तका उसुकारा नमयन्ति तेजनं,
दारु नमयन्ति तच्छका आत्तान दयमन्ति सुव्वतानि।

नहर बनानेवाला जल का मार्ग बनाता है। बाण बनानेवाला बाण को अनुरूप गढता है। तक्षक लकडी के तख्तो को मिलाता है और सुव्रत अपनी आत्मा को सयमित करता है।

इन भावनाओ के साथ कही कही अभिव्यक्ति की वैसी ही जटिलता है, जो वेदगीतो से कबीर की उलटबासियो तक चली आई है —

पंच छिन्दे पच जहे पच चुत्तरि भावये।
पच संघातिगो भिक्खु ओघतिण्णो ति वुच्चति।

पाँच को काट दो, पाँच को त्याग दो, आगे के पाँच पर ध्यान दो। जो पच सघात को पार कर लेता है, वह समुद्र को पार कर लेता है।

भिक्षुओ मे हर वर्ण और हर परिस्थिति से आये हुए व्यक्ति हैं, अत उनके उद्गारो मे विविधता स्वाभाविक है। कुछ भिक्षुओ के जीवन की कथा उनके उद्गारो से इस प्रकार बँधी हुई है कि एक को बिना जाने दूसरे का मर्म हृदय तक नही पहुँचता। उदाहरण के लिए सुमगल थेर की कथा और उसकी गाथा को लिया जा सकता है।

भिक्षु होने के पहले सुमगल श्रावस्ती के निकटवर्ती ग्राम का दरिद्र कृपक था। एक बार जब कौशलनरेश बुद्ध और भिक्षु सघ का स्वागत कर रहे थे, तब वह अपने अन्य साथियो के साथ लकडी, दूध आदि पहुँचाने आया और भिक्षु भिक्षुणियो का सम्मान देखकर उसने भिक्षु होने का निश्चय किया। प्रव्रजित होने पर उसे वन मे साधना करने भेजा गया, पर वहाँ वह अपने गाव की चिन्ता करते-करते इतना अस्थिर हो गया कि गाव लौट आया। उस समय अपने कृषक साथियो को कडी धूप, धूल और गर्म हवा मे मलिन वस्त्र पहने कठिन परिश्रम करते देखकर ही उसे कृपक और भिक्षु के जीवन का अन्तर जान पडा और उसके कण्ठ से यह गाथा फूट निकली —

सुमुत्तिको सुमेत्तिको साहु सुमुत्तिकोम्हि तीहि खुज्जकेहि।
असितासु मया नगलासु मया खुद्द कुद्दलासु मया।

यदि पि इधमेव इधमेव अथवा पि अलमेव अलमेव,
झाय सुमगल झाय सुमगल
अप्पमत्तो विहर सुमगलाति।

मैं मुक्त हो गया, भला मुक्त हो गया, इन तीन वक्र कार्यों से। हँसिए से खेत काटने से मुक्त हो गया। हल के पीछे घसिटने से मुक्त हो गया। मेरी पीठ इन छोटे फावडो पर झुके रहने से मुक्त हो गई। ये यहाँ हैं, चाहे सदैव के लिए यहाँ हैं, पर मेरे लिए अलम हैं। हे सुमगल ध्यान कर, अप्रमत्त ध्यान मे निमग्न रह।

इसी प्रकार दासक थेर की कथा है, जो अनाथपिडक श्रेष्ठी का दासपुत्र और उसके आदेश से विहार का द्वार रक्षक नियुक्त था। उसके अच्छे आचरण से सतुष्ट होकर स्वामी ने उसे दासता से मुक्त कर दिया और उसने प्रव्रज्या ग्रहण की।

दास जीवन की व्यस्तता के उपरान्त कुछ विश्राम का अवसर पाते ही वह भोजनोपरान्त सोने लगा और उपदेश के अवसर पर ऊँघने लगा। बुद्ध ने उसे आलस्य विरत करने के लिए जो उपदेश दिया था उसी को उसने अपनी गाथा का आधार बनाया है —

मिद्धी यदा होति महग्घसो च
निद्दायिता सम्परिवत्तसायी,
महावराहो व निवापपुट्ठो
पुनप्पुनो गब्भमुपेति मन्दो' ति।

जो एक तुष्ट महा शूकर के समान अधिक भोजन कर सोता, करवटें लेता और आलस्य मे पडा रहता है उसे जन्म के बन्धन मे फिर फिर आना पडता है।

सोपाक थेर अनाथ था। उसकी दरिद्र और पीडामूर्च्छित माता को लोग मृत समझकर श्मशान ले गए, जहाँ एक वालक को जन्म देने के उपरान्त वह सचमुच मृत हो गई। श्मशान मे उत्पन्न होने के कारण ही उसे यह नाम मिला। भगवान वुद्ध की कृपा से प्रव्रजित हो जाने पर उमने उनकी करुणा और मैत्री भावना का मर्म समझ कर गाया :—

ययापि एक पुत्तस्मि कुसली सिया,
एवं सब्बेसु पाणेसु सब्बत्य कुसलो सिया' ति॥

जिम प्रकार माता अपने एकमात्र पुत्र के लिए स्नेह-भाव रखती है उमी प्रकार तुम सर्वत्र सवके प्रति स्नेह भाव रखो।

ऐसे भिक्षु भी कम नही हैं जो किसी प्रियजन के वियोग से सन्तप्त होकर सघ मे प्रविष्ट हुए।

हारित थेर प्रव्रजित होने से पहले एक सम्पन्न ब्राह्मण कुल का वशधर था। उमकी सुन्दरी और प्रियतमा पत्नी जब नाग से दशित होकर परलोकवासिनी हुई तब अपने असह्य वियोग दुख से त्राण पाने के लिए वह प्रव्रजित हुआ। वाण वनानेवाले को एक वाण सीधा करते देख उसके हृदय मे जो भाव उठा उसी को उसने गाथावद्ध कर दिया —

समुन्नमयमत्तानं उसुकारो व तेजनं
चित्तं उजु करित्वान अविज्ज छिन्द हारिता' ति।

वाण वनानेवाला जैसे वाण को सीधा करता है उसी प्रकार हे हारित तुम अपने चित्त को सीधा करो और अविद्या को छिन्न कर दो।

सब भिक्षु भिक्षुणियो की प्रव्रज्या के मूल मे तथागत के समान सत्य की अदम्य जिज्ञासा और खोज सम्भव नही है। उनके सघ-प्रवेश के कारणो मे सामाजिक स्थितियाँ, जीवन के व्यापक सुख-दु ख तथा शास्ता के व्यक्तित्व का अमोघ आकर्षण रहना स्वाभाविक है। अत वेश, सघ-विधान, आचार आदि की सामान्यता के भीतर जो स्पन्दित हृदय है, वह अपनी विशेषता मे भिन्न है और उसकी कथा भी विशेष रहेगी।

प्रतिभा सामान्य नही होती। जिस कारण अश्वघोप कई नही हो सके, उसी कारण गाथाओ के गायक भिक्षु-भिक्षुणी भी एक दूसरे की अनुकृति-मात्र नही हैं।

भारतीय प्रतिभा प्रकृति के प्रति सनातन रागमयी है, इसका निश्चित प्रमाण इन वीतराग भिक्षुओ की गाथायें हैं। वेदकालीन कवि ऋषि तो प्रकृति के प्रति साधिकार राग रखता है, क्योकि वह उसे माया या भ्रान्ति नही मानता। जीवन के दु खमय दर्शन की न उसने खोज की है और न उस दु ख से मुक्ति की कामना उसकी जानी पहचानी है।

इसके विपरीत बौद्ध भिक्षु सौन्दर्य को नश्वर और भ्रान्ति मानता है। उसके निकट जीवन दु ख का दूसरा नाम है। न वह मधुर सगीत पर मुग्ध होने का अधिकार रखता है, न सुन्दर चित्र की रगरेखाओ मे स्वय को भुला सकता है। परन्तु प्रकृति ने उसकी समस्त साधना पर विजय पा ली है—सम्भवत उसके अनजाने ही —

नीलब्भवण्णा रुचिरा सीतवारी सुचिन्धरा,
गोपइन्दक सन्छन्ना ते सेला रमयन्ति मन्ति।

(महागवच्छो थेरो)

नीलाभवर्णी, सुन्दर, शीतल, स्वच्छ जल के निर्झरो से युक्त और इन्द्र-वधूटियो से आच्छन्न शैल मेरे मन को भाते हैं।

नीला सुगीवा सिखिनो मोराकार विय अभिनन्दन्ति,
ते सीत वात कलिता सुत्त झाय निबोधेन्ती ति।

(निग्रोघत्थेरो)

:नीली सुन्दर ग्रीवावाले मयूर कारविय (वन) में बोलते हैं। उनकी केकाध्वनि शीतल समीर से मधुर होकर सुप्त ध्यानी को जगा देती है।

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा
सचित्र पत्रच्छदना विहंगमा,
सुमञ्जुघोसत्य निताभिगज्जिनो
ते त रमिस्सन्ति वनम्हि झायिन।
(तञ्ञास निपातो)

· जब तुम वन मे ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवा वाले सुन्दर शिखा-शोभी तथा शोभन चित्रित पखो से युक्त आकाशचारी विहग अपने सुमधुर कलरव द्वारा घोष भरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।

यदा बलाका सुपिडरच्छदा
कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता
पलेहिति आलयमालयेसिनो तदा
नदी अजकरणी रमेति म।

कम्बु तत्य न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहि
सोभेन्ति आपगा कूल महालेनस्स पच्छतो।
(धम्मिको थेरो)

जब ऊपर आकाश मे श्याम घटा से सभीत बगुलो की पाँत अपने उज्ज्वल श्वेत पख फैला कर आश्रय खोजती हुई बसेरे की ओर उड चलती है तब (नीचे उनका प्रतिबिंब लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी मेरे हृदय में प्रसन्नता भर देती है।

मेरी गुफा के पीछे और नदी के दोनो तटो पर लगे सघन जामुन वृक्ष किसके मन को आकर्षित नहीं करते !

अपनी यात्रा का मुहूर्त भी भिक्षु वसन्त के आगमन मे देखते हैं·—

अगारिनो दानि द्रुमा भदन्ते
फलेसिनो छदन विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति,
समयो महावीर भगीरसान।

दुमानि फुल्लानि मनोरमानि
समन्ततो सब्बदिसा पवन्ति,
पत्त पहाय फलमाससाना
कालो इतो पक्कमनाय वीर।

(दस निपात)

नई कोपलो से अगारारुण वृक्षो ने साव से, जीर्ण शीर्ण पल्लव परिधान त्याग दिया है। अव वे लौ से युक्त (अर्चिष्मान) जैसे उद्भासिन हो रहे है। हे वीरश्रेष्ठ ! यह समय आशा से स्पन्दित है।

द्रुमाली फूलो के भार से लदी है, सव दिशाये सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी है और फलो को स्थान देने के लिए पल्लव झड रहे हैं। हे वीर यह हमारी यात्रा का मुहूर्त है।

प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण, उसके विविध रूपो के साथ मन का ऐसा लगाव और उसकी ऐसी सहज रागमयी अभिव्यक्ति, इन गाथाओ को हमारे हृदय के निकट ले आती हैं। जिस धरती के जीवन से मुक्त होने की साधना है, वही अपने विविध रूपात्मक सौन्दर्य से ऐसी साधना की शक्ति देती है। धरती की ऐसी आसक्ति अन्यत्र दुर्लभ हो तो आश्चर्य नही। विरक्ति सहज है, परन्तु आसक्ति द्वारा विरक्ति की साधना, प्रकृति और जीवन की किसी तात्विक एकता का सकेत देती है।

कुशल सगीतज्ञ, कवि, दार्शनिक और महायान के प्रवर्तको मे महत्वपूर्ण स्थिति रखने वाला अश्वघोष सस्कृत महाकाव्यकारो मे प्रथम भक्त कवि है, जिसके निकट उसकी कथा का नायक लोकोत्तर ही नही उसका एकमात्र उपास्य भी है।

आदि कवि को राम के लोकोत्तर गुणो ने आकर्षित अवश्य किया, किन्तु वे राम के अनन्य भक्त नही हैं। कालिदास की विस्तृत काव्य-चित्रशाला मे भी ऐसा कोई पात्र नही मिलता जिसे कवि का एकमात्र इष्ट कहा जा सके।

इस प्रकार अश्वघोष की श्रद्धा की तुलना मध्ययुगीन भक्त कवियो की भक्ति-भावना से ही की जा सकती है।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द महाकाव्य की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वे साकेत निवासी और सुवर्णाक्षी के पुत्र थे और उन्हे आर्य, भदन्त, आचार्य, महाकवि आदि उपाधिया प्राप्त थी —

आर्य सुवर्णाक्षी पुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य
भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्वादिन. कृतिरियम्॥

(सौन्दरनन्द)

बुद्ध-चरित के अनुपलब्ध मूल के तिब्बती अनुवाद से भी यही प्रमाणित होता है।

उनका वेद और कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान, शास्त्र की विविध शाखाओ से सम्बन्ध रखने वाली बहुज्ञता, काव्यागो का विस्तृत परिचय आदि सिद्ध करते हैं कि वे बौद्ध होने के पहले ब्राह्मण रहे होंगे, क्योकि ब्राह्मणेतर वर्णो मे शास्त्र-ज्ञान की ऐसी व्यापक परम्परा न सुलभ थी न आवश्यक।

बौद्ध ग्रन्थो मे अश्वघोष विषयक ज्ञातव्य प्रचुर परिमाण मे प्राप्त है। उनके ग्रन्थो के चीनी, तिब्बती आदि अनुवादो मे भी उनके जीवन और रचना काल सम्बन्धी सकेत सुलभ हैं। परन्तु इतनी सामग्री की उपस्थिति मे भी हम अश्वघोष के जीवनवृत्त को, अन्य प्राचीन महाकवियो के जीवनवृत्त सम्बन्धी नियम का अपवाद नही बना सके। अन्य कवियो के समान ही अश्वघोष के जीवन और रचना काल के दोनो ओर शताब्दियो की सीमायें ही निश्चित करना सम्भव हो सका है।

ईसा से ४८३ वर्ष पूर्व बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ और उसी वर्ष बौद्ध भिक्षुओ की प्रथम सगीति (सम्मेलन) हुई। दूसरी सगीति ई० पू० ३८३वें वर्ष मे और तीसरी अशोक द्वारा ई० पू० २४८वें वर्ष मे आयोजित की गई। अश्वघोष के बुद्ध चरित के अन्तिम सर्ग मे, जो तिब्बती अनुवाद मे प्राप्त है अशोक और बौद्ध

सगीति का जैसा उल्लेख है उससे कवि का अशोक के पश्चात् होना सिद्ध होता है।

अश्वघोष के बुद्ध चरित का चीनी भाषा मे अनुवाद ईसा की पाचवी शती से पूर्व हो चुका था। ग्रन्थ को, विदेशो मे प्रख्यात होने के लिए भी दो शती का अवकाश चाहिए।

चीनी परम्परा मे अश्वघोष, कनिष्क के समसामयिक और गुरु के रूप मे ग्रहीत हैं।

इस प्रकार तर्क-सरणि और चीनी परम्परा के आधार पर हम अनुमान कर सकते है कि अश्वघोष ई० पू० पहली शती मे कनिष्क के समसामयिक या उससे कुछ ही पूर्व रहे होगे, किन्तु कनिष्क के ब्राह्मण विरोधी दृष्टिकोण से, अश्वघोष की उस उदार दृष्टि की सगति नही बैठती जो ब्राह्मण-परम्परा के प्रति आदर-मयी है।

भाषा की दृष्टि से अश्वघोष कालिदास के पूर्वगामी कहे जायगे क्योंकि उनकी भाषा मे आर्ष प्रयोगो की स्थिति के अतिरिक्त उस प्राजल प्रवाह का अभाव है, जो कालिदास की भाषा की विशेषता है। अश्वघोष की शब्दावली की, कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे प्रयुक्त शब्दावली से निकटता, यह सिद्ध करती है कि उनमे समय का अधिक अन्तर नही रहा होगा।

किवदन्तिया अश्वघोष को, महायान श्रद्धोत्पाद-सग्रह, वज्रसूची, गण्डी-स्तोत्र-गाथा तथा सूत्रालकार का रचयिता स्वीकार करती है, परन्तु इस विषय मे मतभेद ही नही विरोधी प्रमाण भी उपलब्ध है। वज्रसूची मे ब्राह्मण धर्म और उसके द्वारा स्थापित वर्णव्यवस्था पर जैसा प्रहार है, वह न अश्वघोष की शैली से मेल खाता है न उनकी उदार वृत्ति से। इसके अतिरिक्त वज्रसूची का चीनी भाषा मे ईसा की दसवी शती मे प्राप्त अनुवाद, उसे छठी शती के बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति की कृति मानता है। गण्डी-स्तोत्र-गाथा जिसमे २९ स्रग्धरा छन्दो मे पिगल, सगीत आदि का वर्णन है, शैली की दृष्टि मे अश्वघोष का नही माना जाता। अशत प्राप्त सूत्रालकार को भी, बौद्धविद्वान कुमारलात की रचना सिद्ध किया जाता है। महायान श्रद्धोत्पाद-सग्रह भी, जो महायान का महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ और नागार्जुन की शून्य विज्ञानवादी माध्यमिक शाखा का आधार कहा जा सकता है, मतभेदो से बचा नही है। यह ग्रन्थ केवल चीनी अनुवाद मे प्राप्त है और चीनी परम्परा इसे अश्वघोषकृत मानती है।

दार्शनिक तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थो के कृतित्व के विषय मे जैसे भ्रम सहज हैं, वैसे साहित्यिक कृतियो के सम्बन्ध मे प्राय सम्भव नही होते। उनमे रचयिता का व्यक्तित्व उसकी शैली में इस प्रकार व्यक्त होता है कि उसे एक से दूसरे मे स्थानान्तरित करना दुष्कर हो जाता है। महाकवि कालिदास के नाम से न जाने कितनी तुच्छ कृतिया जोडी गई, किन्तु वे उनकी भाषा, शैली, विषयचयन आदि की कसौटी पर ठहर नही सकी। महायान श्रद्धोत्पाद-सग्रह को किसी अन्य विद्वान की रचना सिद्ध करना कठिन नही है, किन्तु जिसने बुद्धचरित की रचना की है, उसीने सौन्दरनन्द नही लिखा है, यह सिद्ध करना सम्भव नही होगा, क्योंकि एक ही भावना और अभिव्यक्ति की विशेष पद्धति दोनो को आकार देती हैं। इसी कारण युग व्यतीत हो जाने पर भी किसी महान साहित्यिक कृति मे प्रक्षिप्ताश पहचानने मे कोई बाधा नही पडती।

अश्वघोष की साहित्यिक कृतियो के रूप मे बुद्धचरित, सौन्दरनन्द दो महाकाव्य और सारिपुत्र प्रकरण के कुछ अश उपलब्ध हैं।

बुद्धचरित महाकाव्य में २८ सर्गो मे बुद्ध की कथा वर्णित है, परन्तु उनमे से २ से १३ सर्ग तक ही सस्कृत मे सम्पूर्णत सुरक्षित मिल सके हैं। पहले सर्ग का एक चतुर्थांश अप्राप्य है और सर्ग १२ के दो तृतीयाश। इस महाकाव्य का अनुवाद चीनी भाषा मे ई० ४१४वे वर्ष मे हुआ और तिब्बती भाषा मे ई० ७००-८०० के भीतर और इन अनुवादो मे २८ सर्ग प्राप्त हैं। इन्ही अनुवादो से सस्कृत पाठ की शुद्धि मे भी सहायता मिल सकी है।

बुद्धचरित मे बुद्ध के जन्म से लेकर उनके परिनिर्वाण तक सम्पूर्ण जीवनवृत्त है, जिसके उपरान्त उनके अवशेषो के लिए सघर्ष, प्रथम बौद्ध सगीति और अशोक के राज्य का उल्लेख करके कवि कथा का उपसहार करता है। सौन्दरनन्द मे बुद्ध के विमातृज भाई नन्द की प्रव्रज्या की कथा १८ सर्गों मे वर्णित है। सारिपुत्र प्रकरण जिसके कुछ अश प्रो० ल्यूडर्स को, तुर्फान-मध्य-एशिया मे प्राप्त हुए, नौ अको मे एक प्रकरण रूपक है, जिसका विषय बुद्ध के पट्ट शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या है।

सौन्दरनन्द मे कथा की गठन और भाषा की अधिक माधुर्यमय प्रवाहशीलता को देख कर अनेक विद्वानो का मत है कि उक्त महाकाव्य की रचना बुद्धचरित के उपरान्त हुई होगी। वस्तुत १४ सर्ग के उपरान्त बुद्धचरित मे कथा की शिथिलता

और बौद्ध धर्म और दर्शन की व्याख्या ऐसा रूप ग्रहण कर लेती है कि काव्य की कसौटी पर उसका मूल्य घट जाता है।

अश्वघोष के पास कवि का सवेदनशील हृदय भी है और ससार को दु खात्मक और त्याज्य माननेवाला दर्शन भी। सौन्दरनन्द मे कवि ने स्वीकार किया है कि सत्य के प्रति लोक का आकर्षण न होने के कारण उसकी सहज सप्रेषणीयता के लिए ही काव्यशैली का प्रयोग किया गया है। अत यह स्पष्ट है उनके निकट काव्य साध्य न होकर सत्य के वाहक के रूप मे साधन मात्र है।

काव्य के मूल मे धार्मिक उत्साह प्रेरक शक्ति का कार्य कर सकता है, किन्तु किसी धार्मिक उत्साह से काव्य की उत्कृष्टता सम्भव नही होती। इसके विपरीत कभी कभी ऐसे उत्साह के कारण काव्य अपने सर्वमान्य उन्नत लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

अश्वघोष के समक्ष आन्तरिक और बाह्य जो सीमायें हैं, उन पर विचार करके जब हम उनके काव्य की परीक्षा करते हैं तो विस्मित हुए बिना नही रहते। वे विश्वास से बौद्ध है, अत बौद्धेतर धर्म मे विश्वास रखने वालो के प्रति उनकी उपेक्षा ही नही कटुता भी स्वाभाविक कही जायगी। उनकी बुद्धि लोक और जीवन को दु खात्मक तथा अज्ञान-सम्भव मानती है, अत उसके किसी सौन्दर्य को दृष्टि का विषय बनाना, असगत ही नही बोध तथा निर्वाण के मार्ग मे बाधक भी है। बुद्ध की जीवन-कथा बोध-प्राप्ति की साधना, उपलब्धि और ससार को आलोकदान की अमर गाथा है, अत उनके परिवेश मे जो अनेक मोहान्ध व्यक्तित्व दृष्टिगत होते है, उनका स्नेह और स्नेह-जनित व्यथा, भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नही।

पर धार्मिक रूढियो और दार्शनिक मान्यताओ के साथ भी बौद्ध अश्वघोष कवि अश्वघोष से परास्त हो जाता है, अन्यथा संस्कृत महाकाव्यो की परम्परा मे एक मूल्यवान कडी खो जाती।

महाकाव्य का अभिप्रेत, समग्र परिवेश के साथ जीवन की कथा होने के कारण विविध आकर्षण-विकर्षण कर्तव्य-प्रमाद, स्नेह-घृणा, जय-पराजय आदि, कवि की सूक्ष्म दृष्टि और हृदय की निर्विकल्प सवेदनशीलता की अपेक्षा रखते है। कवि का सौन्दर्य-बोध भी उसकी जीवन और जगत के प्रति आस्था से सम्बद्ध रहता है। यदि वह जीवन और जगत को दु खात्मक भ्रम-मात्र मानता है तो उसके निकट, उनमे न सौन्दर्य या सामजस्य की अनुभूति सुलभ रहती है, न सौन्दर्य या सामजस्य की स्थिति उत्पन्न करने के प्रयास की आवश्यकता।

विशेष वीतराग दृष्टिकोण के कारण अश्वघोष का चित्र-फलक इतना सीमित हो गया है कि मानव की विविध मनोवृत्तियो के अकन के लिए उसमे अवकाश नही रहा। परन्तु उनके अकन की शैली अपनी करुण मधुर रेखाओ मे विशेष और दार्शनिक रगो मे मर्मस्पर्शी है।

प्रकृति के कोमल कठोर चित्र जो विरक्त सिद्धार्थ को आकर्षित करने और साधक सिद्धार्थ को तप से विरत करने की दृष्टि मे अकित किये गए हैं, अपनी सरल स्पष्टता मे रामायण का अनायास स्मरण करा देते हैं। कथा के अनेक स्थल भी इस अनुमान को आधार देते हैं कि अश्वघोष आदिकवि और रामकथा से विशेष प्रभावित थे।

छन्दक और कन्थक को विना कुमार सिद्धार्थ के लौटते देख कर पुरजन उसी प्रकार रुदन करते हैं जैसे सुमन्त को राम, लक्ष्मण और सीता से शून्य रथ लेकर लौटते देख अयोध्यावासियो ने किया था।

निशाम्य च स्रस्त शरीर गामिनौ
विनागतौ शाक्य कुलर्षभेण तौ।
मुमोच वाष्प पथि नागरो जन
पुरा रथे दाशरथेरिवागते॥

मार्ग मे जव नगरवासियों ने उन दोनो को (छन्दक सारथी और कन्थक अश्व को) झुके हुए शरीर के साथ, विना शाक्य श्रेष्ठ के आते देखा, तव वे उसी प्रकार अश्रु गिराने लगे जैसे प्राचीन काल मे दशरथ-पुत्र राम के रथ के लौटने पर पुरजनो ने गिराए थे।

गौतमी के विलाप से कौशल्या के विलाप का स्मरण अनायास हो आता है, क्योकि दोनो की विकलता के मूल मे पुत्रो की सुकुमारता और वनवास के कष्टो की कल्पना है। वैसे मार्मिकता की दृष्टि से, विमाता के कारण यौवराज्याभिषेक के प्रात काल अचानक वनवास के लिए प्रस्थान करने वाले राम और रात्रि की निस्तब्धता मे गृहत्याग करने वाले कुमार सिद्धार्थ, जिनकी सासारिक विरक्ति से उनके माता, पिता, पत्नी आदि आरम्भ से परिचित और आशकित हैं, मे अन्तर है।

बुद्ध के जीवन को स्नेह के तन्तुओ से घेरने वाले व्यक्तित्वो मे यशोधरा के व्यक्तित्व को, किसी भी कवि की करुणा का सजल कोमल स्पर्श, सहज प्राप्य रहेगा।

पर अश्वघोष की वुद्धानुसारिणी दृष्टि चरम विषाद के क्षण मे भी उस पर कम ठहरती है।

ततस्तु रोषप्रविरक्तलोचना विषादसम्बन्धि कषायगद्गद्।
उवाच निश्वासचलत्पयोधरा विगाढशोकाश्रुधरा यशोधरा॥

तब, जिसके नेत्र रोष से रक्तवर्ण हो गए थे, विषादजनित कटुता मे कण्ठ रुद्ध था, नि श्वासो से वक्ष उद्वेलित हो रहा था और प्रगाढ शोक से उत्पन्न अश्रु वह रहे थे, वह यशोधरा छन्दक से बोली।

अनार्यमस्निग्धममित्रकर्म मे नृशस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि।
नियच्छ वाष्प भव तुष्टमानसो न सवदत्यश्रु च तच्च कर्म ते॥

(बुद्धचरित)

हे नृशस मेरे प्रति अनार्य, निष्ठुर तथा अमित्र कर्म करके तू आज यहा क्यो रोता है ? अश्रु रोक कर मन मे तुष्ट हो। तेरे कर्म के साथ ये अश्रु मेल नही खाते।

आश्चर्य नही कि इन पक्तियो के पाठक का हृदय विवश और स्वामि-विरह-कातर छन्दक के प्रति अधिक द्रवित हो जावे।

कथा की दृष्टि से सौन्दरनन्द अधिक मर्मस्पर्शी है। नन्द और उसकी पत्नी चक्रवाक चक्रवाकी के समान एक दूसरे मे आसक्त है। जिस समय मुखमण्डन करती हुई वधू को नन्द दर्पण दिखा रहा है, उसी समय दासी, द्वार पर आकर भिक्षा बिना लौट जाने वाले तथागत का समाचार देती है। वधू गुरु-अवज्ञा के भय से पति को तथागत से क्षमा मागने के लिए जाने देती है, किन्तु विशेषक सूखने के पहले लौट आने का अनुरोध करती है। तथागत के भीड मे घिरे रहने के कारण नन्द विलम्ब से उनके निकट पहुच पाता है और प्रणाम के उपरान्त उनसे घर चलने की प्रार्थना करता है। किन्तु वे लौटना अस्वीकार कर उसके हाथ मे अपना भिक्षा-पात्र थमा देते है और वह उनके पीछे चलता चलता विहार मे पहुँच जाता है, जहा विवशतावश उसे प्रव्रज्या ग्रहण करनी पडती है।

इधर प्रत्येक पगचाप मे नन्द के लौटने का अनुमान करती हुई प्रतीक्षा-विकल वधू के कान मे जब, 'तथागत ने नन्द को प्रव्रजित कर दिया' पडता है, तब वह शोक से मूर्च्छित हो जाती है।

क्रौंच-मिथुन के वियोग से द्रवित हो जाने वाले आदिकवि की, इस मानव-युग्म के वियोग पर कैसी अनुभूति होती, यह कहना कठिन है, किन्तु ससार के समस्त स्नेह-वन्धनो को भ्रान्ति मानने वाले कवि का हृदय भी इस वियोग के प्रति कठोर नही है।

तथागत तथा विहार के समस्त भिक्षु-ममुदाय को मानो इम एकाकी मोह से सघर्ष के लिए बद्धपरिकर होना पडता है और अनेक अतिमानवीय उपायो से वे उस मोह पर विजय भी पा लेते है। किन्तु पाठक की करुणा पराजय नही मानती और वह मोहान्ध द्वन्द्व ही उसकी सहानुभूति का अधिकारी बना रहता है।

वियोग को श्रेय मानने वाले अश्वघोष की नन्द और सुन्दरी के सम्बन्ध मे उक्ति—

ता सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्द
सा वा निषेवेत न त नतभ्रू ।
द्वद्व ध्रुव तद्विकल न शोभे-
तान्योन्य हीनाविवरात्रिचन्द्रौ ॥

(सौन्दरनन्द)

यदि नन्द सुन्दरी को न प्राप्त कर सकता और यदि सुन्दरी उसे पति रूप मे न पाती तो वह विकल द्वन्द्व उसी प्रकार शोभा न पाता जैसे रात्रि के विना चन्द्र और चन्द्र के विना रात्रि।

और सयोग को श्रेय मानने वाले कालिदास की अज और इन्दुमती के सम्बन्ध मे उक्ति—

परस्परेण स्पृहणीय शोभं
न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः
पत्यु प्रजाना वितथोऽभविष्यत् ॥

(रघुवश)

परस्पर स्पृहणीय शोभा वाले इन दोनो का सयोग यदि विधाता न कराता तो इन दोनो को सुन्दर बनाने का उसका श्रम व्यर्थ हो जाता।

तत्वत. एक ही कही जायगी। इतना ही नही पूर्वापर सम्बन्ध मे अश्वघोष की उक्ति प्रथम और अधिक सुन्दर है।

जीवन को प्रकृत्या दु खमय और सौन्दर्य को भ्रान्ति मानने वाले अश्वघोष के सौन्दर्य-चित्र, जीवन को आनन्दमय और सौन्दर्य को सत्य मानने वाले कालिदास के सौन्दर्य-चित्रो से न रेखाओ मे अपूर्ण हैं न रगो मे अस्तव्यस्त।

बोधप्राप्त सिद्धार्थ अपनी प्रशान्त आभा से आकर्षित करते है और मोहग्रस्त नन्द अपने सजल विषाद से हृदय को करुणाप्लावित कर देता है—

> **युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजश्च मेघवत्।**
> **तप्तकनकसदृश प्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घन ॥**

एक साथ अग्नि के समान प्रज्वलित और मेघ के समान जल बरसाते हुए, तप्त स्वर्ण जैसी कान्ति वाले सिद्धार्थ सान्ध्यकालीन बादल जैसे उद्भासित हुए।

> **अथो रुदन तस्य मुख सबाष्प प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु।**
> **वक्राग्रनाल नलिन तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवावभासे ॥**

केशो के काट दिये जाने पर नन्द का रुदित और अश्रु जल से भीगा मुख, सरोवर के उस कमल जैसा लग रहा था जो वर्षा-जल से आर्द्र हो और जिसकी नाल का अग्र भाग वक्र हो।

कुमार सिद्धार्थ के मनोरजनार्थ एकत्र और निद्राभिभूत सुन्दरियो के, उन्हे देखने की उत्कण्ठा मे गवाक्षो पर उपस्थित पौर अगनाओ के तथा उनके गृहत्याग से करुण क्रन्दन करने वाली अन्त पुरिकाओ के चित्रो की रेखाये सधे हाथ और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देती है।

> विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्त सिताशुका शयाना।
> ऋजु षट्पदपक्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥

एक अन्य नारी जो हाथ मे वेणु लिए हुए सो गई थी और जिसका श्वेत अशुक वक्ष से खिसक गया था, ऐसी लगती थी, मानो वह भ्रमरो की सीधी पक्ति से युक्त कमल वाली और फेन से विहसित तटो वाली नदी हो।

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च।
वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसघानन्योन्यवेगाश्च समाक्षिपन्त्यः॥

वे पुर नारिया अपनी मेखलाओ के रव से, नूपुरो की झनकार मे और प्रासाद-सोपानो पर पगो की चाप से गृह मे निवास करने वाले पक्षि-समूह को सभीत करती हुई, एक दूसरी को, वेग से टकराने के लिए दोष देने लगी।

मुखैश्च तासा नयनाम्बुताडितैरराज तद्राजनिवेशन तदा।
नवाम्बुकालेऽम्बुदवृष्टिताडितै स्रवज्जलैस्तामरसैर्यथा सर॥

स्त्रियो के, आसुओ की झडी से ताडित मुखो के कारण वह राजभवन ऐसे सरोवर के समान जान पडता था, जिसमे वर्षाकाल के प्रारम्भ मे मेघ-वृष्टि से ताडित होकर जल की बूदें बरसाते हुए कमल हो।

कम रेखाओ मे अधिक व्यक्त करने की क्षमता के कारण ही अश्वघोष प्रकृति के कोमल और उग्र रूपो को ही नही, दर्शन की गहनता को भी सहज भाव से वाणी दे सके हैं।

मृगा गजाश्चार्तरवान् सृजन्तो
विदुद्रुवुश्चैव निलिल्यिरे च।
रात्रौ च तस्यामहनीव दिग्भ्य
खगा रुवन्त परिपेतुरार्ता॥

मृग और हाथी आर्त शब्द करते हुए इधर उधर दौडने और अपने आपको छिपाने लगे। उस रात्रि मे, दिन के समान, पक्षि-समूह आर्त स्वर मे बोलता हुआ सब दिशाओ मे उडने लगा।

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काञ्चित् विदिश न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

ईसा पूर्व दूसरी शती से ईसवी ११ तक अनेक आरोह अवरोहो के उपरान्त भी तत्वान्वेपिनी मेधा अभी किसी निश्चित बिन्दु पर स्थिर नही हो सकी, केवल, साहित्यगत प्रमाणो के आधार पर दोनो ओर की सीमायें कुछ सिमट सकी है।

भास का समय उनकी सस्कृत मे प्राप्त आर्प प्रयोगो और प्राकृत की विशेपताओ के आधार पर ईसवी दूसरी शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है और कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक मे अपने से पूर्व प्रतिष्ठित नाटककारो मे भास का उल्लेख किया है।

अश्वघोष और कालिदास की भाषा-शैली तथा धर्म, समाज, जीवन आदि की दृष्टि से उनके काव्य, एक दूसरे मे इतने भिन्न हैं कि उनमे कई शताब्दियो का अन्तर स्वाभाविक कहा जायगा।

ईसवी ८ मे क्षीरस्वामी ने अमरकोप की टीका मे और कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक मे कालिदास का उल्लेख किया है। उसी शती मे वाकपतिराज ने अपने प्राकृत काव्य गउडवहो मे रघुवशकार के रूप मे उन्हे स्मरण किया है।

ईसवी ६५० मे बाण और दण्डी ने कालिदास की प्रशसा की है। इसी शती मे (६३३-३८) ऐहोल के शिलालेख मे कालिदास और भारवि का उल्लेख मिलता है। वातासभट्टि के ई० ४७३ के मन्दसौर शिलालेख की शैली पर भी कालिदास का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार कालिदास का समय ई० ४ के आसपास सिमट आता है जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल ई० ३७५-४१८ के निकट है।

कालिदास के समय तक भारतीय जीवन और समाज मे एक स्थिर सौन्दर्य आ चुका था। महाभारत काल की चरम स्वच्छन्दता और उसकी चरम ध्वस मे परिणति, बौद्ध युग का चरम बन्धन और वज्रयान मे उसकी चरम मुक्ति के शिखर और गर्त पार कर के जीवन-प्रवाह समतल भूमि पर आ गया था। समतल पर मन्थर जल का एक प्रशान्त उदार सौन्दर्य होता है। उसके तट पर विशाल वृक्ष आकाश छूने को सिर उठाये खडे रहते है और छोटे तृण सजल धूलि को भेटने के लिए झुक झुक जाते है। कमल-कुमुद भी मिलते है और शैवाल-काई भी स्थान पा लेते है। मधुर लय-सगीत वाले विहग-भ्रमरो का ही स्वागत नही होता, कर्कश स्वर वाले भेक और अपनी शून्यता मे मूक घोघे भी निराश नही लौटते। सुनहली रुपहली मछलिया ही किरणो मे खेलने का अवकाश नही पाती, विशालकाय नक्र को भी अपने तल मे कोई कोना सुलभ रहता है। तट पर घाट भी बाधे जाते है और कगारो को गिरने की स्वतन्त्रता भी रहती है।

पवन के पखो पर उडती हुई धूलि के कितने ही स्तर नदी को मैला नही कर सकते, पर वह मैली तव होती है जव स्वय उसका जल ही धूलि को साथ ले आता है, क्योकि तव उसकी स्वच्छ उज्ज्वलता का कारण ही मटमैला हो जाता है।

इसी प्रकार तट के अरण्य, उपवन, घाट, कगार आदि से उसकी गति नही रुकती, परन्तु सम्मुख उसके तल से उठे हुए वाध ही उसकी चिर प्रवाहशीलता मे अवरोध उत्पन्न करते हैं।

कालिदास ने जीवन की गतिशीलता के मर्म और उसके विविध सौन्दर्य की अनुभूति ही नही प्राप्त की, उस अनुभूति के सत्य को, राग-रस-रगमयी वाणी भी दी।

'क्षण क्षण यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया.।'

वही रमणीय है जो क्षण क्षण मे नवीन जान पडता है मे कालिदास के काव्य की मानो अव्यर्थ परिभाषा है। उसमे अपरिचित कुछ नही है, किन्तु चिर-परिचित ही प्रतिक्षण नवीनता की अनुभूति देता रहता है।

कालिदास की कृतियो मे मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, और अभिज्ञान शाकुन्तल तीन नाटक तथा ऋतुसहार, मेघदूत, कुमारसम्भव और रघुवश चार काव्य उपलव्ध हैं।

ऋतुसहार मे ६ सर्गो मे ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त का वर्णन है, जो कवि की विशेषताओ का सकेत देता हुआ भी उसके कृतित्व के शैशव ही को व्यक्त करता है।

मेघदूत मे कुवेर द्वारा निर्वासित विरही यक्ष का, अलका निवासिनी प्रेयसी पत्नी को मेघ द्वारा भेजा हुआ सन्देश है। कृति मानो दीर्घ प्रकृति-गीत है, जिसमे चेतनाशील जीवन से जड जगत् इस प्रकार मिल गया है कि एक की रेखाओ मे दूसरा साकार हो जाता है। मेघदूत अनेक दूतकाव्यो को प्रेरणा देकर भी अभी तक अकेला ही है, क्योकि प्रेरणा कविदृष्टि देने की क्षमता नही रखती।

कुमार-सम्भव मे पार्वती की तपस्या, शिव से परिणय और तारक का वध करनेवाले कुमार कार्त्तिकेय के जन्म की कथा है और रघुवश मे उसके नाम के अनुसार दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक रघुवशियो के शौर्य, कर्तव्य और त्याग की गाथा है।

नाटको मे 'मालविकाग्निमित्र' का आधार अग्निमित्र और मालविका की प्रेमकथा और विक्रमोर्वशीय का, पुरुरवा और उर्वशी अप्सरा का पौराणिक वृत्त है। अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रेरणा महाभारत मे वर्णित शकुन्तला उपाख्यान से मिली होगी, किन्तु कवि-प्रतिभा ने उस पर सौन्दर्य का ऐसा सजल मर्मस्पर्शी रग फेर दिया है, जिससे मूल कथा और अभिज्ञान-शाकुन्तल मे मिट्टी और उससे जन्म पाने वाले फूल जैसा अन्तर उत्पन्न हो गया।

कालिदास की कृतियो मे यदि केवल अभिज्ञान शाकुन्तल और रघुवश ही रह जाते तो भी उनकी ख्याति मे कोई अन्तर न पडता, क्योकि उन दोनो कृतियो मे कवि का जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-बोध, अनुभूति की अतल गम्भीरता और अभिव्यक्ति का भाषा-शैलीगत वैभव विकास की चरम रेखा छू लेता है।

कालिदास मे विद्रोह का स्वर नही है, वे केवल सौन्दर्य और विलास के कवि हैं, आदि आदि मन्तव्य भी आधुनिक युग के अनुकूल कहे जायगे।

कवि का समय ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का मध्याह्न है और वह स्वय उसी धर्म के प्रति आस्थावान है। उसके पूर्ववर्तियो की कृतियो मे मिलने वाली, भाषा की स्वच्छन्दता और तज्जनित शिथिलता सिद्ध करती है कि उस समय तक काव्य सम्बन्धी मान्यतायें रूढियो की कठिन रेखाओ मे सीमित नही हुई थी। तत्कालीन सामाजिक जीवन अनेक आधी तूफानो से उत्पन्न अस्त-व्यस्तता के उपरान्त स्थिरता चाहता था।

चिन्तन के क्षेत्र मे, अनात्मवादी दर्शन के स्थान मे पारलौकिक सत्ता और अवतारवाद के समर्थक आस्तिक दर्शन की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

बौद्ध हीनयान की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न महायान द्वारा जिन अनेक वास्तु, मूर्त्ति आदि कलाओ को प्रेरणा मिल चुकी थी, वे विकास के पथ पर थी।

साराश यह कि कालिदास का समय निर्माण का युग था। विद्रोह के स्वर की न कवि को आवश्यकता थी न समाज को।

जीवन को गतिशील बनाये रखने वाली व्यवस्थाये जब विषम और कठिन हो कर उसे गतिरुद्ध कर देती है तब उनमे परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है और यह अनिवार्यता विद्रोह के स्वर मे बोलती है। पर जब किसी ध्वस के उपरान्त नूतन निर्माण की वेला आती है तब यह स्वाभाविक हो जाता है कि मनुष्य की कल्पना, बनने वाले समाज, सस्कृति आदि की सामञ्जस्यमयी रेखाये प्रस्तुत करे और उसका

विश्वास, उन रेखाओ मे जीवन के रग भरे। इस स्थिति से, विद्रोही स्वरो की सगति नही वैठती।

कालिदास ब्राह्मण धर्म के उद्गाता हैं, किन्तु उनकी कृतियों मे सकीर्ण साम्प्रदायिक रेखाओ का इतना अभाव है कि पाठक उनकी कृतियो के मगलाचरणो के आधार पर ही उनके शैव होने का अनुमान कर सकता है। वस्तुत धर्म के अन्तर्गत जो कुछ आता है, उसमे से केवल उन्ही तत्वो को उन्होंने दृष्टि का विषय वनाया, जो जीवन को व्यवस्थित गति देने की क्षमता रखते थे और इस दृष्टि से वे तत्व सम्प्रदायविशेष मे सीमित न हो कर सामान्य हो जाते हैं। रघुवश मे रघुवशियो के जीवन और आचार-क्रम का जो वर्णन है, वह सम्प्रदाय विशेष का न हो कर सव का है।

वर्णाश्रम धर्म की कठिन रेखाओ ने उनके पात्रो के हृदय को कठिन न वना कर उनके कर्तव्य को कठिन वनाया है। कवि के निकट मनुष्य का मूल्य जीवन की रसात्मक मगलमयता को सुरक्षित रखने मे है, अत उनके विशिष्ट चरित्रो की कठोरता भी कोमलता का लक्ष्य रखती है।

मुक्ति और वन्धन के वीच मे उनकी जीवन-दृष्टि का सन्तुलन अपूर्व ही कहा जायगा। वे जानते हैं कि चरम अव्यवस्था चाहे मुक्ति न हो, किन्तु चरम व्यवस्था ऐसा वन्धन ही रहेगी, जिसे तोडने मे मनुष्य अपनी सारी सृजन-शक्ति लगा कर श्रान्त हो जायेगा। अत उनका मानव विगड कर वनता है, मुक्ति से स्वय वन्धन की ओर लौटता है और इस प्रत्यावर्तन के पथ पर उसकी प्रत्येक पगचाप मे जीवन के मंगल के स्वर गूजते हैं।

आश्रमवासिनी सरला शकुन्तला के रूप पर मुग्ध दुष्यन्त आश्रम के विरुद्ध आचरण करने के लिए मुक्त है और उसे भूल जाने के लिए स्वतन्त्र, परन्तु इस चरम मुक्ति के उपरान्त वही स्वय पश्चात्ताप की ज्वाला मे तपकर और आसुओ से घुलकर, पुत्रवती शकुन्तला को खोजता और उससे पति तथा पिता के वन्धनो की याचना करता है।

कालिदास सौन्दर्य और प्रेम के अमर गायक हैं, किन्तु उनकी कृतियो मे व्यक्त सौन्दर्य और प्रेम का द्वन्द्व किसी प्रचलित रूढ परिभाषा मे नही वाधा जा सकता। केवल वाह्य रग-रेखाओ मे न वह समा पाता है न अपना यथार्थ परिचय देता है। शकुन्तला के अभिज्ञान के समान ही उनका प्रत्यभिज्ञान, परिचय, अपरिचय और पुन परिचय के क्रम पार करता है।

चमत्कारिक वाह्य रग-रेखाओ मे व्यक्त मौन्दर्य, जिसका परिचय मोहमुग्ध कर देता है, कवि का लक्ष्य नही, क्योकि वह अमाधारण सौन्दर्य तब तक बार बार असफल होता रहता है जब तक उसकी असाधारण तथा अपरिचित रेखाये साधारण और परिचित नही हो जाती और उनमे जीवन के तरल-करुण रग नही छलकने लगते।

एकान्त तपोवन मे आश्रमवासिनी शकुन्तला का अतिमानवीय सौन्दर्य अपनी शक्ति मे अपराजेय जान पडता है —

मानुषीसु कथ वा स्यादस्य रूपस्य सम्भव।
न प्रभातरल ज्योतिरुपैति वसुधातलात्॥

मानवी मे ऐसा रूप कहा सम्भव है? तरल प्रभावाली विद्युत् पृथ्वीतल से नही उदित होती।

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगात्रूपो-
च्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्री रत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या॥

विधाता ने पहले चित्र बनाकर या अपने मानस मे सभी रूपो को सश्लिष्ट करके उसमे प्राण प्रतिष्ठा की होगी। विधाता के विभुत्व और शकुन्तला के कमनीय कलेवर पर विचार कर यही जान पडता है कि इसकी रचना अलौकिक नारी-रत्न के रूप मे हुई है।

अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै-
रनाविद्ध रत्न मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ
न भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि॥

वह अनघ पवित्र रूप, अनसूघे सुमन, नखाघात से अछूते किसलय, अनविंधे रत्न, अनास्वादित नव मधु और अखण्ड पुण्यो के फल के समान है। विधाता न जाने किसे इस सौन्दर्य के उपभोग की पात्रता देगा!

प्रकृति के क्षण क्षण नूतन लगनेवाले असीम वैभव के बीच प्रतिष्ठित यह असाधारण सौन्दर्य दुष्यन्त को इतना विमुग्ध कर देता है कि वह आश्रम के नियम और

राजा के कर्तव्य तक भूल जाता है। परन्तु यह अपूर्व रूप न उसे निरन्तर वेसुध रखने मे ममर्थ है और न भिन्न परिवेश मे आकर्षण की शक्ति रखता है। परिणामत लोक के समक्ष वह अनादृत और असफल होता है।

जब इस सौन्दर्य को सार्थकता प्राप्त होती है तब शकुन्तला के अन्तर्जगत की प्रशान्त दीप्ति, उमके अलौकिक रूप की रेखाओ को धूमिल कर चुकती है। तब वह अतिमानवी के रूप मे अपना परिचय नही देती, वरन् ऐसी लोकसामान्य माता और पत्नी के रूप मे उपस्थित होती है, जिसे सबसे अयाचित आत्मीयता प्राप्त होना स्वाभाविक है। कभी उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होनेवाले और कभी उसका तिरस्कार करनेवाले दुष्यन्त को, अन्त मे जिस शकुन्तला से भेंट होती है वह—

वसने परिधूसरे वसाना नियम क्षाममुखी धृतैकवेणि.।

मलिन वस्त्रो से आवृत, व्रतनियम आदि के पालन मे शुष्क मुखवाली और प्रसाधनरहित केशकलाप की एक वेणी धारण किये हुए है।

राजसभा मे राजा के अस्वीकार करने पर भी जो शकुन्तला हठपूर्वक बार बार अपना परिचय देने का प्रयत्न करती है, वही अब पुत्र के प्रश्न, अज्जुए को एमो मा ये कौन है, के उत्तर मे करुण वात्सल्य से कह देती है, वच्छ दे भाअहेआइ पुच्छेहि वत्स अपने भाग्य से पूछ।

शकुन्तला के इस सामान्य रूप मे, मोती की आभा के समान अन्त करण के सौन्दर्य की आभा, आनन्द और विषाद के छायालोक मे खेलती है और इसी के समक्ष दुष्यन्त अपने समग्र जीवन को निवेदित कर देता है।

इसी प्रकार हिमालयकुमारिका का सौन्दर्य अपूर्व है। जब वह वसन्त के वैभव मे शृंगारमलासमयी प्रकृति के बीच उपस्थित होती है, तब क्षण भर के लिए पुष्पधन्वा को अपने सम्मोहनबाण की सफलता का निश्चय होने लगता है। परन्तु परिणाम मे काम दग्ध हो जाता है और वह अनिन्द्य सौन्दर्य उपेक्षित।

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं-
व्यर्थं समर्थ्य ललित वपुरात्मनश्च।
सख्यो. समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित्॥

शैलात्मजा भी सखियो के समक्ष अपने उन्नत मस्तक वाले पिता के मनोरथ

युगो की भिन्न और विपरीत कसौटियो पर परीक्षित होकर भी वह मिथ्या नही ठहराया जा सका।

कालिदास ने जीवन-सरिता के पुलिनो पर यत्र-तत्र स्फटिक-मरकत के घाट-सोपान बनाकर भी उसके प्रवाह और गहराई मे कोई व्यवधान नही उपस्थित किया। किन्तु उनके परवर्ती सस्कृत कवियो ने चमत्कार की स्पर्धा मे नदी के तल मे सोने-चादी की रेत बिछाना आरम्भ किया। परिणामत ज्यो ज्यो जल की गहराई घटने और तल की कठिनता बढने लगी त्यो त्यो कमल सूखने और हरीतिमा तिरोहित होने लगी और अन्त मे चमत्कार की चकाचौध मे घाट-सोपान और सुनहली रुपहली बालुका का विस्तार दृष्टि के लिए मृगमरीचिका बन गया।

समय के अनेक आयाम पार कर भाव की जिस अन्त सलिला का प्रकट और सजल स्पर्श हम पाते है उसके भगीरथ भवभूति है।

ईसा की सातवी शती से चौदहवी शती तक का समय ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान की दृष्टि से विशेष उर्वर माना जायगा।

एक ओर उद्योतकर, कुमारिल भट्ट, शकराचार्य, वाचस्पति, उदयनाचार्य, रामानुज, सायणाचार्य आदि दार्शनिको ने अनेक तर्क-सरणियो की उद्भावना की और दूसरी ओर भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियो ने विस्मृत मान्यताओं को वाणी दी।

इनमे भवभूति का व्यक्तित्व सबसे विशिष्ट है। उनके समय के सम्बन्ध मे भी हमे साहित्यगत अन्त और बाह्य साक्ष्यो का ही आधार लेना पडता है।

राजतरगिणी के चतुर्थ अक मे मिलता है—

कवि वाक्पतिराज श्री भवभूत्यादि सेवित।
जितो ययौ यशोवर्म्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियो से सेवित यशोवर्मा ने पराजित होकर उसकी (ललितादित्य की) स्तुति की।

इसके अनुसार भवभूति का कान्यकुब्जाधिप यशोवर्मा की सभा मे होना सिद्ध होता है। जनरल कनिघम के मत से ललितादित्य, जिसने यशोवर्मा को परास्त किया, का राज्यकाल ६९३ ई० से ७२९ ई० तक रहा।

भवभूति के समसामयिक वाक्पतिराज ने अपनी प्राकृत रचना 'गौडवहो' मे उसकी विशेषता का परिचय देने के लिए लिखा है—

भवभूइ जलहि निग्गय कव्वामय रसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहाणिवेसेसु॥

भवभूति-समुद्र से जो काव्यामृत निकाला गया है उसके कुछ विन्दु 'गौड वहो' काव्य मे स्पष्ट दृष्टिगत होंगे।

राजशेखर ने, जो माधवाचार्य के अनुसार शकर के समसामयिक थे, अपने वाल रामायण नाटक मे पुरातन कवियो के साथ भवभूति का उल्लेख किया है —

बभूव वल्मीकिभव· कवि पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थित· पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखर·॥

पहले वाल्मीकि, फिर भर्तृहरि पृथ्वी पर उत्पन्न हुए, फिर भवभूति नाम से जिस कवि का जन्म हुआ, वही अव राजशेखर के रूप मे विद्यमान है।

राजशेखर का समय आठवी शती के अन्त और नवी के प्रारम्भ मे माना जाता है, अत आठवी शती के अन्त तक भवभूति की जीवन यात्रा समाप्त हो चुकी होगी, अन्यथा राजशेखर अपने आपको उनका अवतार कैसे कह सकते थे।

सातवी शती के पूर्वार्द्ध मे हर्षचरित, कादम्बरी और चडिकाशतक के रचयिता वाणभट्ट, दशकुमार काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी जैसे, दीर्घ समास-युक्त, क्लिष्ट भाषा के प्रेमी विद्वान ग्रन्थकार हो चुके थे। इनके आसन्न परवर्ती होने और स्वय विद्वान होने के कारण भवभूति की भाषा मे दीर्घ समास वाहुल्य स्वाभाविक हो गया, परन्तु अपने कथ्य की दृष्टि से न वे किसी के अनुवर्ती हैं और न किसी को अपने अनुगमन का अवकाश देते हैं।

महावीरचरित और मालतीमाधव नाटको की प्रस्तावना मे भवभूति ने सूत्रधार के माध्यम से अपना जो परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि वे दक्षिणापथ के विदर्भ देशस्थित पद्मपुर नगर निवासी वाजपेय यज्ञ करने वाले काश्यप गोत्रीय महाकवि गोपाल भट्ट के पौत्र नीलकण्ठ के पुत्र थे और उनका दूसरा नाम श्रीकण्ठ था। प्रस्तावना के अनुसार उनकी माता जातुकर्णी और गुरु ज्ञाननिधि थे।

भवभूति की रचनाओ मे उनके किसी आश्रयदाता का उल्लेख नहीं मिलता, अत यह अनुमान स्वाभाविक है कि उन्हें जीवन की सन्ध्या मे कान्यकुब्जनरेश यशो·

वर्मा का आश्रय प्राप्त हुआ। यशोवर्मा स्वय विद्वान और कवि था और भवभूति अपनी कृतियो के प्रख्यात होने पर उससे सम्मान पाने के अधिकारी हो गए हो तो आश्चर्य नही।

इस विद्रोही कवि का अधिकाश जीवन सघर्ष मे व्यतीत हुआ, इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, परन्तु उनके कटु अनुभवो ने उन्हें हताश और कटु न बनाकर उनके प्रखर विद्रोह मे अमर आशावाद की प्रतिष्ठा भी की और उनकी करुणा को अधिक विस्तार और गहराई भी दी।

उत्तररामचरित मे कवि ने सूत्रधार से कहलाया है —

सर्वथा व्यवहर्त्तव्य कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणा तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनो जन॰॥

अपना कर्त्तव्य पूर्णत करना चाहिए। निन्दा से मुक्ति कहा सम्भव है? स्त्री के सतीत्व और वाणी (रचना) के साधुत्व के विषय मे मनुष्य दुर्जन ही रहता है।

मालतीमाधव के नवे अक मे उन्होने अपने काव्य को अवज्ञा करनेवाले आलोचको को जो उत्तर दिया है, वह युगयुगान्तर तक प्रत्येक नवागत कवि के हृदय मे प्रतिध्वनित होता रहेगा —

ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञा
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्न।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यय निरवधि विपुला च पृथ्वी॥

जो मेरे काव्य का अनादर करते है उन्हे ही इसका कारण ज्ञात होगा। उनके लिए मैंने यह प्रयत्न नही किया है। मेरे काव्य को समझने वाला (मेरा समानधर्मा) कोई व्यक्ति कभी उत्पन्न होगा ही, अथवा इसी समय कही होगा, क्योकि समय असीम है और पृथ्वी विपुल विस्तारमयी है।

उपर्युक्त कथन कवि की अहकारोक्ति मात्र नही है, वरन यह उसकी अपनी कृति मे व्यक्त सत्य के प्रति अडिग आस्था है। सत्य अज्ञात या उपेक्षित रहने पर असत्य नही हो जाता।

भवभूति के तीन नाटक उपलब्ध है—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित।

महावीरचरित मे राम की कथा उनके शैशव से चलकर रावणयुद्ध और अयोध्याप्रत्यावर्तन मे समाप्त होती है।

मालतीमाधव प्रकरण रूपक है, जिसके १० अको मे उज्जयिनी के राजमन्त्री की कन्या मालती का माधव नामक विद्वान से प्रेम और विवाह वर्णित है। तीसरे नाटक उत्तररामचरित के ७ अको मे राम द्वारा सीतापरित्याग और उनके पुनर्मिलन की कथा सर्वथा नवीन पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत की गई है।

बौद्धधर्म के अस्त और ब्राह्मणधर्म के पुन उदय की द्वाभा मे भवभूति ने अपने नाटको की रचना की है। वे स्वय वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मण हैं, किन्तु उनकी रचनाओ मे पक्षपातजनित निन्दा-स्तुति का अभाव है।

बौद्धधर्म की अस्ताचलगामिनी आभा तन्त्र-मन्त्र के मेघाडम्बर मे बिखर कर एक कुहकभरे छायालोक का सृजन कर रही थी। भवभूति ने इस अन्धकार-आलोक के विषम सम चित्र बडी सहृदयता से अकित किये हैं।

समष्टिगत विषमता और विकृतियो के बीच भी व्यक्तिगत विशेषताओ के लिए कवि की करुणा का अभिषेक दुर्लभ नही रहता।

मालतीमाधव मे अघोरघट, कपालकुण्डला आदि के तान्त्रिक समाज मे कवि की दृष्टि परिव्राजिका कामन्दकी के वात्सल्य को खोज लेती है —

दया वा स्नेहो वा भगवति निजेऽस्मिन् शिशु जने
भवत्या ससाराद्विरतमपि चित्त द्रवयति।
अतश्च प्रव्रज्या - समयसुलभाचारविमुखः
प्रसक्तस्ते यत्नः प्रभवति पुनर्दैवमपरम्॥

हे भगवति शिशुमालती के प्रति आपकी जो दया अथवा स्नेह है, उसने आपके ससार से विरक्त चित्त को भी द्रवित कर दिया है। इसीसे आप प्रव्रजित जीवन के आचार से विमुख होकर उसके लिए यत्नशील हैं।

ब्रह्मा के कमण्डलु मे बन्द गगा के समान भवभूति की करुणा, जो उनकी अन्य कृतियो की सीमा मे अभिव्यक्ति का मार्ग खोजकर बहती रहती है, उत्तरराम-चरित मे आकाश से पाताल तक अनन्त विस्तार पा लेती है। अत उसका दुर्वार वेग युगो से दर्शको को विस्मयमुग्ध करता आ रहा है।

अतिपरिचय से धूमिल लगनेवाली राम सीता की कथा भवभूति की करुणा का स्पर्श पाकर नूतन परिचय की दीप्ति मे उद्भासित हो उठती है। राम और

मीता के व्यक्तित्व मानो करुणा की वीणा के दो तूंबे है, जो जीवन के सम-विषम तारो को जोडने के लिए ही एक दूसरे से दूर है और इन तारो पर स्नेह की रागिनी अनन्त आरोह-अवरोहो मे मॅंडराती रहती है।

उत्तररामचरित मे कवि की कल्पना नाटककार की करुणा की अनुगामिनी है, अत कथा के अन्त मे राममीता का मिलन मम्भव हो जाता है।

ग्लानि मे पृथ्वी मे समा जानेवाली सीता की करुण स्थिति, करुणा के उपामक भवभूति को आकर्षित नही करती, क्योकि वे करुणा को चिरमृजनशीला मानते है। इमीसे उन्होने अपने नाटक मे कथा की रेखा-रेखा का मयोजन इस प्रकार किया है कि राम सीता का सयोग अनिवार्य हो जाता है। यदि यह मयोग मम्भव नही है तो एकनिष्ठ प्रेम अमत्य है और यह असत्य मृत्यु का पर्याय है।

उनके नाटक मे अलौकिक तत्वो का बाहुल्य है। नदिया वार्त्तालाप करती है, वनदेविया साथ चलती है, भागीरथी सीता को अदृष्ट रहने की शक्ति देती है आदि आदि, परन्तु जिस महा लय के साथ यह सब घटित होता है उससे मनुष्य का हृदय इतना परिचित है कि वह किसी को मिथ्या नही मानता। दाम्पत्य मम्बन्ध की रेखा के भीतर या बाहर सयोग-वियोग की विविध स्थितियो मे प्रतिफलित प्रेम के जिन रूपो से हमारा परिचय है, वे भवभूति के चित्रपट को नही भर पाते।

मयोग मे भी राम, मीता के प्रति अपने प्रेम का जैमा परिचय देते है वह किसी अतीन्द्रिय मानसिक स्थिति और जीवनव्यापी तादात्म्य का सकेत है —

> विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु खमिति वा
> प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प किमु मद ।
> तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
> विकारश्चैतन्य भ्रमयति च समीलयति च॥

मै निश्चित नही कर पाता हू कि यह सुख है अथवा दु ख, निद्रा है अथवा अतिशय मूर्च्छा, विष का प्रसरण है अथवा मादकता।

तुम्हारे स्पर्श स्पर्श से एक मनोविकार मेरी इन्द्रियो को स्तब्ध करके मेरी चेतना को भ्रमित और प्रसुप्त कर देता है।

दीर्घ साहचर्यजनित प्रेम की सात्विक गम्भीरता स्पष्ट करने के लिए ही मानो भवभूति राम से सीता के शैशव-रूप का स्मरण कराते है —

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः
दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः॥

विरल और मुकुलो जैसी दन्तपक्ति और कपोलो के दोनो ओर हिलती हुई सुन्दर अलको से युक्त मुग्धकर शिशु जैसे मुखवाली सीता तब अपने अतिशय ललित, ज्योत्स्ना के समान स्निग्ध और अकृत्रिम चेष्टाओ वाले अगो से मेरी माताओ के हृदय मे कुतूहल उत्पन्न करती थी।

पत्नी के शैशव का ऐसा स्मरण अन्यत्र दुर्लभ है। चित्र की रेखायें मानो किरण को गगाजल मे डुबो कर अकित की गई हैं।

प्रेम के विषय मे राम के कथन मे भवभूति की अपनी मान्यता है, परन्तु उस मान्यता से किसी का विरोध सम्भव नही —

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

सुख दुःख मे जो एक रहता है, सब अवस्थाओ मे जो एकरस है, हृदय जहा विश्राम पाता है, जरावस्था जिसका माधुर्य नष्ट नही कर पाती और दीर्घ साहचर्य से द्वैत का आवरण हट जाने पर जो स्नेहसार के रूप मे स्थिर रहता है, उस दुष्प्राप्य अद्वैत प्रेम को जो मनुष्य प्राप्त कर लेता है वह भाग्यशाली है।

करुणा भवभूति के चिन्तन का केन्द्रबिन्दु भी है और जीवन का मर्म भी, अतः किसी भी दुःखार्त्त के प्रति उनकी समवेदना सहज है।

उनके युग के समाज की नारी, शूद्र आदि के प्रति जो हीन भावना और अन्ध रूढियो के प्रति जो निष्ठा रही होगी, उससे कवि प्रभावित नही जान पडता।

सीता यदि करुणा की मूर्तिमती पयस्विनी है तो वशिष्ठपत्नी अरुन्धती ज्ञान का दीप्त उन्नत शिखर। विदेह जनक अरुन्धती की वन्दना करते हुए कहते है —

सीता के व्यक्तित्व मानो करुणा की वीणा के दो तूंबे है, जो जीवन के सम-विषम तारो को जोडने के लिए ही एक दूसरे से दूर हैं और इन तारो पर स्नेह की रागिनी अनन्त आरोह-अवरोहो मे मँडराती रहती है।

उत्तररामचरित मे कवि की कल्पना नाटककार की करुणा की अनुगामिनी है, अत कथा के अन्त मे रामसीता का मिलन सम्भव हो जाता है।

ग्लानि से पृथ्वी मे समा जानेवाली सीता की करुण स्थिति, करुणा के उपासक भवभूति को आकर्षित नही करती, क्योकि वे करुणा को चिरसृजनशीला मानते है। इसीसे उन्होने अपने नाटक मे कथा की रेखा-रेखा का सयोजन इस प्रकार किया है कि राम सीता का सयोग अनिवार्य हो जाता है। यदि यह सयोग सम्भव नही है तो एकनिष्ठ प्रेम असत्य है और यह असत्य मृत्यु का पर्याय है।

उनके नाटक मे अलौकिक तत्वो का बाहुल्य है। नदिया वार्त्तालाप करती है, वनदेविया साथ चलती है, भागीरथी सीता को अदृष्ट रहने की शक्ति देती है आदि आदि, परन्तु जिस महा लय के साथ यह सब घटित होता है उससे मनुष्य का हृदय इतना परिचित है कि वह किसी को मिथ्या नही मानता। दाम्पत्य सम्बन्ध की रेखा के भीतर या बाहर सयोग-वियोग की विविध स्थितियो मे प्रतिफलित प्रेम के जिन रूपो से हमारा परिचय है, वे भवभूति के चित्रपट को नही भर पाते।

सयोग मे भी राम, सीता के प्रति अपने प्रेम का जैसा परिचय देते हैं वह किसी अतीन्द्रिय मानसिक स्थिति और जीवनव्यापी तादात्म्य का सकेत है —

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु खमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प किमु मद ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्य भ्रमयति च समीलयति च ॥

मै निश्चित नही कर पाता हू कि यह सुख है अथवा दु ख, निद्रा है अथवा अतिशय मूर्च्छा, विष का प्रसरण है अथवा मादकता।

तुम्हारे स्पर्श स्पर्श से एक मनोविकार मेरी इन्द्रियो को स्तब्ध करके मेरी चेतना को भ्रमित और प्रसुप्त कर देता है।

दीर्घ साहचर्य जनित प्रेम की सात्त्विक गम्भीरता स्पष्ट करने के लिए ही मानो भवभूति राम मे सीता के शैशव-रूप का स्मरण कराते है —

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
र्दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्।
ललितललितैर्ज्योत्स्ना प्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमंगकैः॥

विरल और मुकुलो जैसी दन्तपक्ति और कपोलो के दोनो ओर हिलती हुई सुन्दर अलको से युक्त मुग्धकर शिशु जैसे मुखवाली सीता तब अपने अतिशय ललित, ज्योत्स्ना के समान स्निग्ध और अकृत्रिम चेष्टाओ वाले अगो से मेरी माताओ के हृदय मे कुतूहल उत्पन्न करती थी।

पत्नी के शैशव का ऐसा स्मरण अन्यत्र दुर्लभ है। चित्र की रेखायें मानो किरण को गगाजल मे डुबो कर अकित की गई हैं।

प्रेम के विषय मे राम के कथन मे भवभूति की अपनी मान्यता है, परन्तु उस मान्यता से किसी का विरोध सम्भव नही —

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

सुख दुःख मे जो एक रहता है, सब अवस्थाओ मे जो एकरस है, हृदय जहा विश्राम पाता है, जरावस्था जिसका माधुर्य नष्ट नही कर पाती और दीर्घ साहचर्य से द्वैत का आवरण हट जाने पर जो स्नेहसार के रूप मे स्थिर रहता है, उस दुष्प्राप्य अद्वैत प्रेम को जो मनुष्य प्राप्त कर लेता है वह भाग्यशाली है।

करुणा भवभूति के चिन्तन का केन्द्रविन्दु भी है और जीवन का मर्म भी, अत किसी भी दुःखार्त्त के प्रति उनकी समवेदना सहज है।

उनके युग के समाज की नारी, शूद्र आदि के प्रति जो हीन भावना और अन्य रूढियो के प्रति जो निष्ठा रही होगी, उनसे कवि प्रभावित नही जान पडता।

सीता यदि करुणा की मूर्तिमती पयस्विनी है तो वशिष्ठपत्नी अरुन्धती ज्ञान का दीप्त उन्नत शिखर। विदेह जनक अरुन्धती की वन्दना करते हुए कहते है —

यया पूत मन्यो निधिरपि पवित्रस्य महस.
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणा गुरुतम ।
त्रिलोकी मगल्यामवनि तल लीनेन शिरसा
जगद्वन्द्यां देवीं उषसमिव वन्दे भगवतीम् ॥

पूर्व काल के गुरुओ मे भी श्रेष्ठतम और पवित्र तेज की निधि होकर भी, जिसके पति वशिष्ठ जिसके कारण अपने आपको पवित्र मानते है, जो त्रिलोक की मगलविधायक और देवी उषा के समान वन्दनीया है, उस भगवती अरुन्धती को मैं पृथ्वी पर मस्तष्क रखकर प्रणाम करता हूँ।

वेद-साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र ऐसी दिव्य गरिमा-भूषित नारी-मूर्त्ति दुर्लभ रहेगी।

वाल्मीकि के आश्रम मे विद्याव्ययन के लिए अकेली यात्रा करनेवाली आत्रेयी, नारी रूप मे उपस्थित तमसा, मुरला, भागीरथी आदि नदिया, पृथ्वी और वनदेविया सब अपनी समवेदना मे गरिमामयी है।

राम द्वारा शूद्रतापस शम्बूक के वध की कथा मे कवि परिवर्तन नही कर सका, किन्तु उसकी करुणा ने उस क्रूर कर्म पर औचित्य का रग नही फेरा।

शम्बूक के वध के लिए प्रस्तुत राम कहते है —

हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्ना-
सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते ॥

हे मेरे दक्षिण हस्त! ब्राह्मणपुत्र को जीवित करने के लिए शूद्रमुनि पर असि का वार कर। तू उस राम का अग है जो गर्भभार से श्रान्त सीता को निर्वासन देने मे पटु है। तुझमे करुणा कैसी!

किसी प्रकार प्रहार करके भी वे अपने क्रूर कर्म के परिणाम के प्रति आश्वस्त नही है —

कृत राम सदृश कर्म। अपि जीवेत्स ब्राह्मणपुत्र ।

यह राम के अनुरूप (क्रूर) कर्म हुआ। कदाचित् वह ब्राह्मणपुत्र जीवित हो जावे।

उपर्युक्त मानसिक स्थिति यही प्रमाणित करती है कि राम, सीता के परित्याग और निर्वासन के समान ही शूद्र तापस के वध को क्रूर कर्म मानते हैं, किन्तु जिस लोकमत ने एक कृत्य करा लिया, उसी के कारण दूसरा भी अनिवार्य हो उठा।

भाव की जिस निगूढ और गम्भीर मर्यादा के लिए भवभूति प्रकृति के हल्के लघु चित्र नही आकते, उसी को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होने अपने नाटको से, विदूषक के हल्के मनोरजन को निर्वासन दे डाला है।

परन्तु तीव्र मनोविकारजनित तनाव को शिथिल करने के लिए उन्होने ऐसे दृश्य और कथन उपकथनो की उद्भावना की है, जो तत्कालीन जीवन और सामाजिक आचार का परिचय भी देते हैं, और शिष्ट हास्य भी सहज कर देते हैं। उत्तररामचरित के चतुर्थ अक मे वाल्मीकि-आश्रम के अन्तेवासी सौधातकि और दाण्डायन के वार्त्तालाप मे ऐसे ही हास्य की कोमल दीप्ति है।

कालिदास की रचना मानो सान पर चढा कर खरादा हुआ हीरा है, जो किसी भी कोण से आनेवाली किरण को सहस्र रूपो मे प्रतिफलित कर लौटा देता है। किन्तु भवभूति की कृतियो की तुलना खान से सद्य निकले हुए हीरकखण्ड से की जा सकेगी, जिस पर आलोक का प्रतिफलन कोण विशेष पर निर्भर है। पर इसमे दोनो की महार्घता मे अन्तर नही पडता।

दीर्घ समासकुल भाषा और जटिल मनोविकारो के तटो को जोड कर प्रवाहित भवभूति की करुणा ने ऐसा कुछ दिया है जिसके स्पर्श मे—

अपि ग्रावा रोदिति दलति वज्रस्य हृदयम्।

पाषाण भी रोते हैं और वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

भवभूति की 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा' मे व्यक्त भविष्य वाणी को सत्य करने के लिए प्रत्येक युग मे उसके समानधर्माओ की परम्परा अविच्छिन्न चलती आ रही है।

संस्कृत साहित्य की निम्नगामी प्रवृत्ति, जिसकी यात्रा भवभूति के रचनाकाल से पहले ही आरम्भ हो चुकी थी, अपने वेग मे दुर्वार होती जा रही थी। पर जिसकी वंशी की टेर ने उस निम्नगा को नर मे खोने से बचा कर प्रेम की ओर मोड दिया उस गोपालक तक इतिहास की किरणें नहीं पहुँच पाती हैं।

कृष्ण आभीर थे या आर्य, भागवत के कृष्ण और महाभारत के कृष्ण एक है

या नही, राधा का व्यक्तित्व कल्पित है या सत्य आदि आदि जिज्ञासाओ का समाधान अब तक नही हो सका। परन्तु कवि जयदेव के हृदय के तार उसी वशी रव से झकृत हो उठे थे, इसका प्रमाण गीतगोविन्द है।

प्रसन्नराघव नाटक के रचयिता का नाम भी जय देव है और चन्द्रालोक के प्रणेता का भी। परन्तु गीतगोविन्द के गायक जयदेव तीसरे और दोनो समाननामाओ से भिन्न है।

कहा जाता है कि वे वगनरेश लक्ष्मणसेन के सभाकवि थे जिनका समय १२वी ई० शती का पूर्वार्द्ध है।

गीतगोविन्द मे उन्होंने अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार उनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधा देवी था —

श्री भोजदेव प्रभवस्य राधादेवी सुत श्री जयदेवकस्य।
पराशरादि प्रियवर्ग कण्ठे श्री गीतगोविन्द कवित्वमस्तु॥

उनकी पत्नी पद्मावती का उल्लेख भी गीतगोविन्द के आरम्भ मे मिलता है —

वाग्देवता चरित चित्रित चित्तसद्मा
पद्मावती चरण चारण चक्रवर्ती।
श्री वासुदेवरतिकेलिकथासमेत-
मेत करोति जयदेवकवि प्रबन्धम्।

कवि के जीवनवृत्त के लिए हमें किम्वदन्तियो पर ही निर्भर रहना पडता है।

जयदेव का जब आविर्भाव हुआ तब सस्कृत के शृगारी काव्य के नायक-नायिका के रूप मे राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

शृगार-भाव जीवन की मूलप्रवृत्तियो मे स्थिति रखता है, अत अन्य मूल-प्रवृत्तियो के समान उसका भी सस्कार और उदात्तीकरण स्वाभाविक है। जिस नियम से प्रत्येक अकुर और वृक्ष धरती के कर्दम और अन्धकार मे स्थिति रखते हुए भी आकाश की ओर उठता है और अपनी तत्वत अभिव्यक्ति सीमित कर्दम मे न देकर मुक्त सौरभ मे देता है, उसी नियम से, पाशविक कर्दम मे जडें रखने वाली मानव-प्रवृत्तियो का क्रमश उदात्तीकरण होना अनिवार्य है।

'एकोऽहम बहुस्याम' मे काम का जो तत्व छिपा हुआ है उससे वैदिक ऋषि

भी परिचित है और उपनिषद् का दार्शनिक भी। परन्तु जीवन मे जब उक्त मूल-प्रवृत्ति का उदात्तीकरण सम्भव नही रहता तब उसका निम्नगा हो जाना अनिवार्य हो जाता है। भय, क्रोध, घृणा जैसी मूलप्रवृत्तियो के लिये भी यही सत्य है। या तो मनुष्य उनका परिष्कार कर लेता है या वे अपने मौलिक रूप मे मनुष्य की नियामक बन कर उसे पशु के स्तर पर उतार लाती है।

शृंगारी उपासना के बीज, बौद्ध धर्म के ह्रास से उत्पन्न तान्त्रिक और वज्रयानी सम्प्रदायो मे खोजे जा सकते है, जिनकी उपासना मे स्त्री पूजोपकरण के समान है।

ईसा की सातवी शती मे ही बग वज्रयानी और तान्त्रिक उपासना-पद्धति से प्रभावित था।

विकासशील वैष्णव धर्म ने शृंगार को अस्वीकार न करके राधाकृष्ण को उसका केन्द्रबिन्दु बना दिया और इस प्रकार मधुर भाव की उपासना ने मनुष्य के मन को तन्त्र-मन्त्रादि की कठिन साधना से विमुख कर दिया।

राधाकृष्ण युग्म का विकास भी कम रोचक नही है। साख्य के पुरुष और प्रकृति ने निर्गुणवादियो के ब्रह्म और आत्मा तथा सगुणोपासको के कृष्णराधा, शिवशक्ति आदि युग्मो के विकास मे कोई योग दिया है या नही, यह भी विशेष शोध की अपेक्षा रखता है। राधा के व्यक्तित्व की रेखाये ई० शती ७ मे ही बनने लगी थी, किन्तु उस व्यक्तित्व मे प्राणप्रतिष्ठा का श्रेय भागवत सम्प्रदाय को ही दिया जा सकता है। ई० शती १० के लगभग श्रीमद्भागवत का रचना काल माना जाता है और उसके दशम स्कन्ध मे कृष्ण और गोपिकाओ की रास-क्रीडाओ का सजीव और रसप्लावित चित्रण मिलता है।

गीतगोविन्द के कवि ने इन शृंगार चित्रो को तान लय मे बाध कर ऐसी गेयता दी है, जिसका माधुर्य चिर नूतन और झकार सनातन है।

भारतीय गीत साहित्य अन्तरग और बहिरग दोनो मे विविध है। उषा की दिव्य सुषमा से लेकर दादुर की ध्वनि तक को अपनी सीमा मे सुरक्षित रखनेवाले वेदगीत है। भिक्षु-भिक्षुणियो के साधनामय जीवन की कथा सुनानेवाले गीति-वृत्त है। दैनन्दन जीवन के अतिपरिचित और क्षणिक सुख-दुःख, मिलन-विरह, पर्व-उत्सव आदि को लय के तार मे गूथ कर अक्षय माधुर्य देनेवाले लोकगीत हर साम मे मुखरित है। सिद्धो के गूढ और गुरु ज्ञान को सगीत के पख देनेवाले सन्त-गीत भी साहित्य का महार्घ स्थान है। साराश यह कि बुद्धि की जटिल प्रक्रिया से

हृदय की सरल सम्प्रेषणीयता तक, जो कुछ भारतीय प्रतिभा संचित कर सकी, उसे उसने जीवन का छन्द बना कर कण्ठों में सुरक्षित रखने का अथक प्रयास भी किया है। गीतगोविन्द, इस अविच्छिन्न गीतपरम्परा की मूल्यवान कड़ी है।

राधाकृष्ण को केन्द्र बनाकर चलनेवाली शृंगार-उपासना और उन्हें आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक मान कर विकास करनेवाली भक्ति-भावना की सन्धि में जयदेव का आविर्भाव होने के कारण उन्हें दोनों का दायभाग अनायास प्राप्त हो गया। पर इस सम्मिलित दाय से उत्पन्न द्वाभा आनेवाले युगों में अनेक मतभेदों का कारण बनती रही है।

जयदेव के गीत विच्छिन्न न होकर एक गेय प्रबन्धात्मकता में बंधे हुए हैं, अतः द्वादश सर्गों में विभाजित इस गीतिकाव्य में राधाकृष्ण के मान राग, विरह, मिलन आदि की ललित कथा कही गई है। किन्तु जयदेव का चित्रपट न तो निर्गुण गीतकारों के चित्र फलक के समान विराट है जिसमें सम्पूर्ण जगत एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति बनकर समा जाता है और न वह सगुणोपासक कथाकारों के चित्र-फलक के समान सीमित और विविध है, जिसमें मानव-रूप में अवतरित इष्ट को जीवन के कठिन संघर्ष और उससे उत्पन्न असंख्य परिस्थितियों में रहना पड़ता है।

कवि जयदेव की विशेषता उनकी भाषा में जितनी प्रत्यक्ष है उतनी कथ्य में नहीं। संस्कृत भाषा को उन्होंने जैसा प्राञ्जल और स्निग्ध-मधुर लचीलापन दिया है, उसकी तुलना में स्वभावमधुर ब्रजभाषा ही ठहर सकती है।

गीतगोविन्द अस्ताचलगामी संस्कृत काव्य का सन्ध्या-गीत है अतः उसके सुनहले रुपहले क्षितिज के ऊपर इन्द्रधनुषी किरणें ही नहीं मंडरा रही हैं नीचे अतल से उठते हुए अन्धकार की लहरें भी उससे टकरा रही हैं।

भारतीय वाङ्मय की रूपमयता विविध और चेतना सर्वात्मिका है। उसमें से कुछ पंक्तियां लेकर उसका परिचय देना, कुछ बूंद जल लेकर समुद्र का परिचय देने के समान हो जाता है।

पर यह सत्य है कि हम अपनी छोटी गंगाजली में जितना जल भर लेते हैं, उतना ही तो गंगा में नहीं होता और जितनी वर्षा से हमारा बोया बीज अंकुरित हो जाता है, उतनी ही तो [illegible] की सीमा नहीं होती। हम अपनी परिमित प्राप्ति से ही अपरिमित [illegible] रखते हैं।

स्वाध्याय मे अधिक प्रयाससाध्य होने पर भी अनुवाद अन्तत अपूर्णता की अनुभूति ही देता है। कारण स्पष्ट है।

भाषा विचारो और मनोभावो का परिधान है और इस दृष्टि से एक विचारक या कवि की उपलब्धिया जिस भाषा मे व्यक्त हुई हैं, उससे उन्हें दूसरी वेश-भूषा मे लाना, असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य रहता है।

अपरिचित परिधान कभी कभी उनके व्यक्तित्व की विशेषता को आच्छादित कर उसे अपरिचित या कौतुकमात्र बना देता है।

इसके अतिरिक्त युग विशेष के कृती सृष्टा की अनुभृतियो की पुनरावृत्ति सहज नही होती। कवि जब अपनी अनुभूतियो की भी यथातथ्य आवृत्तिया करने मे असमर्थ रहता है, तब युगान्तर के किसी कवि की अनुभूतियो की आवृत्ति के सम्बन्ध मे कुछ कहना व्यर्थ है। परन्तु अनुवादक के लिये ऐसी तादात्म्य मूलक आवृत्ति आवश्यक ही रहेगी, जिससे वह देशकाल के व्यवधान पार करके किसी कवि की अनुभूति को नवीन वाणी दे सके।

किसी कवि की कृति के अध्ययन के समय उसकी अनुभूतियो के साथ पाठक का जो तादात्म्य होता है वह कभी पूर्ण, कभी अशत पूर्ण और कभी अपूर्ण हो सकता है। इस तादात्म्य की मात्रा के न्यूनाधिक्य पर केवल उसके अपने आनन्द की मात्रा का न्यूनाधिक्य निर्भर है, किन्तु जब वह किसी की अनुभूति को सर्मत दूसरो तक सप्रेषणीय बनाने का कर्तव्य अगीकार कर लेता है, तब उसका तादात्म्य या उसका अभाव दो पक्षो के प्रति उत्तरदायी है। प्रस्तुत अनुवाद की अपूर्णताओ के प्रति मैं सजग हू, किन्तु समुद्र की अतल गहराई से निकाला हुआ मोती काष्ट की छोटी मजूषा मे भी रखा जा सकता है।

अनुवाद के साथ मूल देने की औपचारिकता का निर्वाह नही किया गया। जिनका सस्कृत मूल मे परिचय है, उनके निकट अनुवाद पढने का आयास, चले हुए राजमार्ग की ओर पगडडियो से लौटने के समान है। और जो सस्कृत से अपरिचित और उसकी दुरूहता सम्बन्धी किम्वदन्तियो से अति परिचित हैं, वे सस्कृत के साथ मुद्रित हिन्दी की पुस्तक से भी सभीत रहते हैं।

भविष्य मे स्थिति-परिवर्तन के लिये 'कालो ह्य निरवधि विपुला च पृथ्वी' ही मानना चाहिए —

रामनवमी

२०१७ वि०

— महादेवी

आर्षवाणी

दिवजाता शुभ्राम्बर-विलसित,
नूतन, आभा से उद्भासित,
भू-सुषमा की एक स्वामिनी
शोभन आलोकित विहान दे।

अरुण किरण के वाजि चन्द्र-रथ-
ले करती जो पार क्रान्ति-पथ,
निशि-तम-हारिणि यह विभावरी
हमे यजन गौरव महान दे।

सुगम तुझे गति है अचलो पर,
सुतर शान्त लहरो का सागर,
निश्चित क्रम विस्तृत पथ-चारिणि,
स्वत. दीप्त तू हमे मान दे।

दिन दिन नव नव छवि मे आकर,
गृह गृह मे आलोक बिछाकर,
ज्योतिष्मती प्राप्त की वेला,
ऐश्वर्यो मे श्रेष्ठ दान दे।

जन न ठहरते पथ मे पग घर,
खग न रुके नीडो मे पल भर,
जिसका उदय विलोक—वही
अरुणा अब हमको सजग प्राण दे।

जागे द्विपद चतुष्पद आकुल,
दिग्दिगन्तचारी पुलकाकुल,
जिसका आगम देख उषा वह
कर्म - पथ सब को समान दे।

—ऋग्वेद

ज्योतिष्मती

आ रही उषा ज्योति.स्मित!

प्रज्ज्वलित अग्नि है लहराती आभा सित।

सब द्विपद चतुष्पद प्राणि जगत है चचल,
सविता ने सब को दिया कर्म का सम्बल,

नव रश्मिमाल से भूमण्डल-परिवेपित!

आ रही उषा ज्योति स्मित!

जो ऋत् की पालक मानव-युग-निर्मायक,
जो विगत उषाओ के समान सुखदायक,

भावी अरुणाओं मे प्रथमा उद्भासित!

आ रही उषा ज्योति स्मित!

आलोकदुकूलिनि स्वर्ग - कन्यका नूतन,
पूर्वायन-शोभी उदित हुई उज्ज्वलतन,

व्रतवती निरन्तर दिग् दिगन्त से परिचित!

आ रही उषा ज्योति.स्मित!

उसके हित कोई उन्नत है न अवर है,
आलोकदान मे निज है और न पर है,

विस्तृत उज्ज्वलता सव की, सव से परिचित !

आ रही उषा ज्योति स्मित !

रक्ताभ श्वेत अश्वो को जोते रथ मे,
प्राची की तन्वी आई नभ के पथ मे,

गृह गृह पावक, पग पग किरणो से रजित !

आ रही उषा ज्योति स्मित !

—ऋग्वेद

जागरण

सज गया दक्षिणा का देखो वह महत यान,
सब जाग उठे हैं अमृत पुत्र भी कान्तिमान!

आर्या अरुणा आरूढ आ रही तिमिर पार,
गृह गृह पहुचाने ज्योतिर्धन का अतुल भार।

जेता सग्रामो की ऐश्वर्यों की रानी,
चेतन जग से पहले जागी वह कल्याणी,

वह युवति सनातन प्रतिदिन नूतन वन आती,
वह प्रातयज्ञ मे प्रथम पुरोहित सी भाती॥

कर देवि! सुजाते! ऐश्वर्यों का सम वितरण,
सविता साक्षी, है हम सबके अकलुष तन मन,

आलोक विछाती प्रियदर्शन छविमय प्रतिदिन,
उजला कर जाती हर घर का तममय आगन।

ज्योतिर्वसना तू शनै शनै उतरी भू पर,
निधियो मे तेरा दान रहा सबसे भास्वर,

ओ सूर्य वरुण की स्वसा! गूजते तेरे स्वर,
हारें विद्वेषी, रथी रहे हम विजयी वर।

हो ऊर्ध्वगामिनी सत्य पुरन्ध्री वाक् मधुर,
प्रज्ज्वलित पूत यह अग्निशिखा उठती ऊपर,

तम के परदे मे जो निधिया थी अन्तर्हित,
अव दीप्तमती वेला मे होती उद्भासित।

जाती रजनी, आती है अरुणा क्षिप्रचरण,
है रूप भिन्न पर एक सचरण का वन्धन,

वह अन्तरिक्ष मे तिमिर-तोम फैला जाती,
जाज्वल्यमान स्यन्दन पर यह पथ मे आती।

जो रूप आज, कल भी उसका प्रत्यावर्तन,
करती अरुणाये वरुण-नियम गति मे धारण।

क्रम से नित करती पन्थ पार योजनत्रिशत्,
होता समीप प्रत्येक पहुचती दोपरहित।

परिचित है दिन के प्रथम चरण के आगम से,
उज्ज्वलवदना उद्भूत हुई है वह तम से,

वह कान्तिमती युवती प्रकाश का कर वर्पण,
रखती अखण्ड वह नियम वंधा जिससे जीवन।

रूपसि कन्या सी अवगुण्ठन से मुक्त वदन,
कामनाशील सविता का करती स्वय वरण,

उसके समक्ष यह युवति विभा सस्मित आनन,
उर का आवरण हटा, देती छवि का दर्शन।

ज्यो मातृ-प्रसाधित वधू-गात लोचन-रोचन,
विच्छुरित प्रभा मे आज उपा का सुन्दर तन,

तम का वारण कर ज्योतिमयी भद्रे ! धन्या !
तेरी समानता कर न सके अरुणा अन्या।

यह अश्ववती गोमती विश्व से वरणीया,
रवि-रश्मि-प्रेरिता आती है नित कमनीया,

यह नित्य लौटती दूर दिशाओ मे जाकर,
मगलरूपो मे सकेतित मगल के वर।

× × ×

करती ध्रुव अनुसरण सूर्य-किरणो का तू नित,
भद्रे ! कर दे कर्म हमारे भद्र-निवेशित।

तेरा यह आलोक करे अज्ञानो का क्षय,
प्राप्त हमे, होताओ को, हो निधियो का चय।

--ऋग्वेद

वोध

मुझको देखो, मुझको जानो!

मै मनु था मै कक्षिवान
मै सूर्य दिवाकर,
अपनाता हू आर्जुनेय (विद्वज्जन) को
मै ही ऋतपर।

मुझको देखो मुझको जानो!

आर्य (श्रेष्ठ) जनो के हित मै
धरती का दाता हू,
दान्शील के लिए वृष्टिया
मै लाता हू!

मुझको देखो, मुझको जानो!

मेरे ही इगित से जल
कर रहे सचरण,
मेरी प्रज्ञा का करते है
देव अनुसरण!

मुझको देखो, मुझको जानो!

मैं कवि हूं, मैं क्रान्ति दृष्टियों
से संयुत हूं,
मैं उशना हूं अखिल विश्व-
मे सबका हित हूं।

मुझको देखो, मुझको जानो।

—ऋग्वेद

अग्नि-गान

१

हव्यवाह! नित ज्वलनदीप्त तुम
यजनशील के दूत समान,
बल-जन्मा! तुमसे यजनो मे
होता देवो का आह्वान!

रचते हो तुम आहुतियो से
नित्य दिव्य अर्चना - विधान,
करते हो तुम अन्तरिक्ष मे
आलोकित पथ का निर्माण!

वेगवती लपटे लगती है
जैसे हो तुरग चचल
नभ के मेघो के समान ही
उनका है सुमन्द्र गर्जन!

आयुध सी इन दीप्त शिखाओ—
से सज्जित समीर-प्रेरित,
बली वृषभ मे अग्नि वनो मे
बाधारहित तुम्ही धावित!

व्यापक अन्तरिक्ष में रहते
प्रभा - पुत्र तुम अन्तर्हित,
सभी चलाचल हो जाते हैं
वेग तुम्हारे से कम्पित !

दीप्त स्वर्ग के तुम मस्तक हो
तुम पृथिवी की नाभि अनूप,
दिव्य लोक, धरती दोनो मे
तुम रहते हो अधिपति रूप !

एक सूर्य में ज्यो हो जाते
लीन किरण के जाल समस्त,
हे वैश्वानर ! वैसे ही हैं
तुम मे सारी निधिया न्यस्त !

प्रश्न

पूछ रहा हू आज स्वय अपने से, उर मे
हो सकता क्या एक कभी उससे अन्तर मे ?

अवहेला को भूल कभी वह स्नेह-तरल मन,
कर लेगा स्वीकार गीत की भेट अकिचन ?

किस दिन मै उज्ज्वल प्रसन्नचित कल्मष खोकर,
मिल पाऊ आनन्दरूप से सम्मुख होकर ?

दर्शनयाचक मै, कह दे क्या अवगुण मेरे,
जिनके कारण आज मुझे यह बन्धन घेरे ?

जो ज्ञानी है, पूछ चुका उनसे बहुतेरा,
सबका उत्तर एक वही प्रभु रूठा तेरा !

अविनय ऐसा कौन आज तू भी जिसके हित,
स्नेह-सखा को किया चाहता इतना दडित ?

हे दुर्लभ ! दे बता और तब दोषविगत मै,
पहुचू तुझ तक त्वरित्, भक्ति से नमित विनत मै ।

—ऋग्वेद

भू-वन्दना

सत्य महत, सकल्प, यज्ञ, तप, ज्ञान, अचल ऋत,
जिस पृथिवी को धारण करते रहते अविरत,
भूत और भवितव्य हमारा जिससे अविकृत,
वह धरती दे हमे लोक-हित आगन विस्तृत।

जिसके है वहु भाग समुन्नत, अवनत, समतल,
नही मानवो के समूह से वाधित, सकुल,
विविध शक्तिमय ओपधियो की वृद्धि-विधायक,
यँह पृथिवी नित रहे हमे स्थिति-मगलदायक।

आश्रित जिस पर सभी सरित-सर-सागर के जल,
लहराता है जहा शस्य का शोभन अचल,
जिस पर यह चल प्राणि-जगत है जीवित, स्पन्दित,
वही धरा दे हमे पूर्वजो का श्रेयन् नित।

फैली चारो ओर दिशाये दूर अवाधित,
जिस पर होते विविध अन्न कृपियाँ उत्पादित,
जो सयत्न करती वहुधा जीवन का पोपण,
वही हमारी भूमि शस्य दे औ' दे गोधन।

शान्ति-स्तवन

शान्त गगन हो शान्त धरा हो।

फैला दिशि दिशि

अन्तरिक्ष हो शान्त हमारा,

शान्त हमारे हित हो

सागर की जल धारा,

ओपधियो मे क्षेम हमारे हित विखरा हो।

शान्त गगन हो शान्त धरा हो।

शममय हो भूकम्प

शान्त उल्का-निपतन हो,

शम, विदीर्ण धरती

का उर भी भीति शमन हो,

क्षेमकरी ही रहे धेनु लोहितक्षीरा हो।

शान्त गगन हो शान्त धरा हो।

उल्का - अभिहत ग्रह

शम हो अभियान दु खकर,

शम कृत्या छल कुहक

हिंस्र आचरण क्षेमकर,

साम्य-मन्त्र

स्नेह भावना युक्त द्वेष भावो से विरहित,
मै करता हूँ, तुम सबको सम सौमनस्य-चित।

वत्स ओर धावित होती ज्यो गो ममता से,
आकर्षित तुम रहो परस्पर त्यो समता से।

माता के प्रति पुत्र रहे अनुकूल निरन्तर,
रहे सदा निज जनक अनुगमन मे वह तत्पर।

सुखद स्नेह-मधुमती शान्ति की दायक वाणी,
गृह मे पति से कहे सदा जाया कल्याणी।

कभी सहोदर का न सहोदर विद्वेषी हो,
भगिनी का उर भगिनी का हित अन्वेषी हो।

हो समान सकल्प और व्रत एक तुम्हारा,
हो कल्याण प्रसार कथन उपकथनो द्वारा।

हुए देवगण द्वेषरहित मन जिसको पाकर,
रखते नही विरोध-बुद्धि एकान्त परस्पर,

उसी ज्ञान मे प्रति गृह को करता अभिमन्त्रित,
जन जन को वह करे एक चेतना-नियन्त्रित,

एक दूसरे से चाहे हो श्रेष्ठ ज्येष्ठ जन,
एकचित्त हो रहो कार्यसाधन-सयत-मन।

पृथक न हो तुम एक धुरी मे वद्ध करो श्रम,
रहो प्रियवद् करता हूं मन चित्त एक सम।

हो पानीय समान, अन्न भी एक रहे नित,
एक सूत्र मे तुमको मै करता सयोजित।

चक्रनाभि सलग्न अरे ज्यो रहते अनगिन,
वैसे ही तुम करो अग्नि का मिल अभिनन्दन।

एक कार्यरत तुम, सस्थिति भी एक तुम्हारी,
करता हूं तुमको समान निधि का अधिकारी।

देवो के सम करो अमृत का तुम सरक्षण,
साय प्रात समान तुम्हारे रहें शान्त मन।

—अथर्ववेद

अभय

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

मैं अपने निर्दिष्ट
लक्ष्य तक पहुंचू निश्चित,
यह पृथ्वी आकाश,
सदा शिव हो मेरे हित,

हो प्रतिकूल न ये प्रदिशाये,
द्वेष भाव का मुझमे क्षय हो।

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

प्राप्त हमे हो इन्द्र!
तुम्हारा लोक असीमित,
जिसमे हो कल्याण,
ज्योनि मे जो आच्छादित,

स्थिर विशाल भुज की छाया मे,
हमे भीति से मिली विजय हो।

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

भीति रहित यह अन्तरिक्ष,
मुझ को हो घेरे,
धरती दिव कल्याण -
विधायक हो नित मेरे;

ऊपर - नीचे, आगे - पीछे,
कही नही मुझको सशय हो!

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

नही मित्र से भीत,
शत्रु से हो निर्भय मन,
ज्ञात और अज्ञात,
न कोई भय का कारण;

शका रहित रात मेरी हो,
दिन 'मुझको कल्याण निलय हो।

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

जिन कवचो से दिव्य—
वपुप, होगये देवगण,
स्वय इन्द्र करता है,
जिनका तेज सगठन;

करे वर्म वे ही आच्छादित,
मेरे लिए सभी शममय हो।

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

धरती मेरा कवच,
कवच है नभ मेरे हित,
दिन भी मेरा कवच
कवच रवि है उद्भासित;

शकायें छू मुझे न पायें,
विश्व कवच मेरा अक्षय हो।

दिशि-दिशि मेरे लिए अभय हो।

—अथर्ववेद

गृह-प्रवेश

रचते हैं आवास यही हम अपना निश्चित,
रहे क्षेममय धाम सदा यह स्निग्ध, सुरक्षित!

हे गृह! लेकर साथ वीर औ' अक्षत परिजन,
आये तेरे निकट, शरण दे तेरा आगन!

अचला हो यह नीव उसी पर रहे प्रतिष्ठित,
गो-अश्वो से भरा, रहे तुझमे सुख सचित!

हम सब के हित उन्नत रह सौभाग्यव्रती हो,
ऊर्जस्वति घृतवति शाले! तू पयस्वती हो!

ध्रुव स्तम्भो पर रहे समुन्नत छाया तेरी,
लगी तुझी मे रहे विमल धान्यो की ढेरी!

सदन! लौट आने देना गोधूली वेला,
बाल, वत्स औ' गति-मन्थर सुरभी का रेला!

सविता, मघवा, वायु, बृहस्पति पथ के ज्ञाता,
तेरे हित सब रहे सदा स्थिति-मगल दाता!

इसे सिक्त करने आवे अनुकूल मरुतगण,
ऋद्धिदेव से शस्य - भूमि के हो उर्वर कण!

देवो ने की प्रथम प्रतिष्ठित गृहदेवी वर,
सानुकूल जो हुई शरण औ' छाया देकर।

दूर्वादल वेष्टिता सदन की देवि सदय हो,
हमे मिले ऐश्वर्य वीरजन से परिचय हो।

वशदण्ड। आधार-स्तम्भ का अधिरोहण कर,
देख तुझे ध्रुव उग्र द्वेपिजन हो कम्पितउर।

तेरे नीचे क्षेमयुक्त रक्षित परिजन हो,
सब स्वजनो के साथ शरद शत का जीवन हो।

आये बालक और वत्स गोधन भी आये,
लाये हम पानीय पात्र दधि के भी लाये।

गृहिणी। ले आ पूर्ण कलश तू अपना न्यारा,
इसमे वहती रहे सदा अमृत-घृत-धारा।

अमृतरस मे पात्र, हमारा कर आपूरित,
इष्टपूर्ति से रहे धाम का मगल रक्षित।

अक्षय जल अक्षय होने के हित लाये हम,
अमर अग्नि के साथ अजर गृह मे आये हम।

—अथर्ववेद

स्वस्ति

रात्रि हमे शुभ हो औ' शुभ दिन भी हो मनभाया !

दिव के तेज-शक्ति - आपूरित
जो था पार्थिव विश्व चराचर,
तमस्विनी रजनी ! छाई है
तेरी व्यापक छाया सब पर।

यह तारो से खचित तिमिर
अब दिग्दिगन्त छाया।

दृष्टि न जिसका पार पा सकी
उसमें यह समस्त जग गतिमय,
पृथक न इसमे रहता कोई
सब पाते इसमें एकाश्रय,

हमें पार कर, दुख रहित,
सब कण्ठो ने गाया !

मूल्यवान जिन निधियो को हम
करते है निज श्रम से सचित,
जिन निधियो को हम रखते है
मजूषाओ में सगोपित,

उन सबके हित हमने तुझको
सरक्षक पाया।

माता रात्रि ! सौप जाना तू
हमे उषा के सरक्षण मे,
उषा हमे फिर, तुझे सौप दे
सध्या समय विदा के क्षण मे !

रात्रि हमे शुभ हो औ' शुभ
दिन भी हो मनभाया !

—अथर्ववेद

चयन

१

परि प्रासिष्यदत् कवि
सिन्धोरूर्मावधिश्रित
कारु बिभ्रत पुरुस्पृहम्।
—साम पूर्वार्चिक ५-१०

लोक - हित - तन्त्री सभाले
सिन्धु - लहरो पर अधिश्रित,
वह चला कवि क्रान्तिदर्शी
सब दिशाओ में अबाधित।

२

अन्ति सन्त न जहाति
अन्ति सन्त न पश्यति ।

देवस्य पश्य काव्यम्
न ममार न जीर्यति ।।

—अथर्ववेद १०-८

जिस समीपवर्ती मे होते
दूर न क्षण भर,

जो समीप है किन्तु
देखना जिसको दुष्कर,

देखो तुम उस सृजनशील का
काव्य मनोहर,

अमर और नित नूतन जो
रहता है निर्जर ।

३

यथा द्यौश्चपृथिवी च
न विभीतो न रिष्यत.
एवा मे प्राण मा विभे ॥१॥

—अथर्ववेद : २-१५

यह उन्नत आकाश
और यह धरती जैसे,
भीतिरहित हैं और
निरन्तर रहते अक्षय,

वैसे ही हे प्राण !
अबाधित गति तेरी हो,
नष्ट न होना और सदा तू रहना निर्भय।

४

भद्रमिच्छन्त ऋषय: स्वर्विदस्तपो
दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

—अथर्ववेद : १९-४१

ज्ञाता औ' कल्याण चाहने वाले ऋषिवर
तपदीक्षित जब होते पहले, ज्ञानार्जनपर,

तब होता है राष्ट्र ओजसयुत बलनिर्भर,
तभी देवगण से उसको मिलता है आदर!

५

अय कविरकविपु, प्रचेता
मर्त्येष्वग्निरमृतो निर्धाण्य।
स मा नो अत्र जुहुर सहस्व
सदा त्वे सुमनस स्याम॥

—ऋग्वेद : ७-४४

कवि होकर सर्वदा
अकवियो मे रहता जो,
मरणधर्मियो में अमृत
बनकर बसता जो,

वही प्रचेतन अग्नि
हमारा करे न अनहित,
रहे उसी मे हम सदैव
हो सौमनस्य चित।

६

न पापासो मनामहे
नारायासो न जल्हव.।
यदिन्न्विन्द्र वृपण सचा सुते
सखाय कृणवामहै ॥

—ऋग्वेद · ८-६१

उमे मनाते नही
पाप से मलिन कभी हम,
दीन नही, हमको
न घेरता तेजरहित तम।

इसीलिए उस सुखवर्पक
सामर्थ्यवान को
यज्ञकर्म मे सखा
बना लेते अपना हम।

७

उद्यानं ते पुरुष नावयान
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममममृत सुख रथम्
अथ जिर्वि विदथमावदासि॥

—अथर्ववेद : ८-१

तेरी गति हो ऊर्ध्व पुरुष!
हो कभी न अवनत,
जीवन को तेरे करता हूँ
शक्ति - समन्वित।

ध्रुव तू हो आरूढ़ अमृत के,
सुख के रथ पर।
हो चिरायु तू ज्ञानप्रसारण
में रह तत्पर।

८

स्वस्तित मे सुप्रात सुखाय
सुदिव सुमृग सुशकुन मे अस्तु।

सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्य
गत्वा पुनरायाभिनन्दन्॥

—अथर्ववेद १६-८

शुभ मुझको सूर्यास्त
प्रात साय सुखकर हो
स्वस्ति मुझे हो दिवस
शकुन मृग शुभ शमकर हो।

अग्नि! होत्र मेरा हो
शुभगमी सबके हित,
अमर भाव कर प्राप्त
लौट तू हो अभिनन्दित।

•

९

वृहस्पते प्रथम वाचो अग्र,
यत्प्रेरत नामधेय दधाना.।

यदेषा श्रेप्ठ यदरिप्रमासीत्प्रेवा,
तदेपा निहित गुहावि ॥

—ऋग्वेद १०-७१

वाणी का थी पूर्व रूप,
सज्ञाये केवल,
वुद्धिलीन वह रही,
श्रेष्ठ कल्याणी निर्मल।

वृहस्पते ! जो आदि मनुज,
मे भावो का चन,
प्रीत हृदय से व्यक्त हुआ,
वन गिरा अनामय।

१०

आकूति देवी सुभगा पुरा दध,
चित्रस्य माता सुहवानो ।स्तु ।

यामाशामेमि केवली सा,
मे अस्तु, विदेयमेना मनसि
प्रविष्टाम ।।

—अथर्ववेद १६ ४

वाक अर्थ की शक्ति,
बोध का जो है कारण,
जननि चित्र की सुभग,
करु मै उसको धारण।

आशा मेरी पूत,
सिद्धि से हो सयोजित,
जान सक प्रज्ञा को,
जो मन मे है सस्थित।

वाल्मीकि

शिष्य कर से वस्त्र लेकर
सयतेन्द्रिय सन्त,
लगे वन को देखने
जो था विपुल विन अन्त।

क्रौंच - क्रौंची - युग्म देखा
निकट क्रीडासक्त,
मधुर कलरव, खेल मे
सुख हो रहा था व्यक्त।

पाप निश्चय कर, अकारण
शत्रु, आया व्याध,
युग्म मे से क्रौच को
मारा कठिन शर साध।

रक्तरजित गिरा भू पर
छटपटाता दीन,
रुदन करने लगी क्रौची
करुण, सहचरहीन।

ताम्रवर्णी शीशवाला
स्नेहमत्त प्रसन्न,
उसी पति मे रहित क्रौची
हुई दीन विपन्न।

व्याध से हत क्रौंच की
दयनीय स्थिति का ज्ञान,
कर गया मुनि धर्मवन के
द्रवित आकुल प्राण।

देखकर तव विकल क्रौंची,
व्याध - चरित - अधर्म,
वह चली वाणी सहज
ले द्रवित उर का मर्म।

'क्रौंच के इस मुग्ध जोडे से
किया हत एक,
तू न पायेगा प्रतिष्ठा व्याध।
वर्ष अनेक।'

वचन कह ऋषि के हृदय मे
फिर हुआ परिताप,
'दे दिया शोकार्त मैंने
आज कैसा शाप!'

वे सुधी मतिमान फिर
करके विचार विकल्प,
शिष्य अपने से लगे
कहने स्वय संकल्प!

हेमन्त

शस्य - मालिनी धरा
और नीहार-परुष है लोक,
जल अप्रिय होगया
अग्नि करती है आज अशोक।

दक्षिण दिशिचारी रवि से—
है उत्तर दिशा विहीन,
तिलकहीन बाला सी उसकी
हुई कान्ति छविहीन।

प्रकृतिदत्त हिमकोप, दूर
अब इससे है दिनमान,
सार्थक नाम हिमालय का
होगया आज हिमवान।

स्पर्शसुखद मध्याह्न, सुखद
इन दिवसों मे सचार,
प्रिय लगता आदित्य, अप्रिय
छाया, जल का व्यवहार।

व्याप्त शीत है रवि लगता
कोमल तुषार से न्यस्त,
सूने हैं आरण्य, कमल के
वृन्द होगए ध्वस्त।

नभ तल शयन वर्ज्य जिनमे
जो दीर्घ हुई पा शीत,
हिम से कुहराच्छन्न रही
ये पौष रात्रिया बीत।

वन्धु मित्रो के निधन से
प्राप्त वैभव - सार,
अन्न विषमय ज्यो,
नही होगा मुझे स्वीकार।

वन्धु हो मेरे सुखी
हो क्षेम - मगल - योग,
शपथ आयुध की
यही वस राज्य का उपयोग।

सिन्धु - वेष्टित भूमि पर
मुझको सुलभ अधिकार,
धर्म के विन इन्द्र - पद
मुझको न अगीकार।

विन तुम्हारे, भरत औ'
शत्रुघ्न विन, सुखसार—
दे मुझे जो वस्तु उसको
अग्नि कर दे क्षार।

भ्रातृवत्सल भरत ने,
होता मुझे अनुमान,
आ अयोध्या मे किया
कुलधर्म का जब ध्यान,

और सुन, मैंने बना
कर जटावल्कल - वेश,
अनुज सीता सह बसाया
है विपिन का देश।

स्नेह - आतुर चेतना मे
विकलता दुख - जन्य,
देखने आये भरत
हमको, न कारण अन्य।

अप्रिय कटु मा को सुना
कर तात को अनुकूल,
राज्य लौटाने मुझे
आये, न इसमे भूल।

क्या कभी पहले भरत ने
कुछ किया प्रतिकूल?
जो तुम्हे इस भाति हो
भय आज शकामूल।

क्या किसी आपत्ति मे
हो पुत्र से हत तात?
प्राण सम निज बन्धु का ही
बन्धु कर दे घात?

कह रहे इस भाति तुम
यदि राज्य हेतु विशेष,
'राज्य दो इसको' कहूगा
मै भरत को देख।'

शाल से तव उतर लक्ष्मण
बद्धअजलिहाथ,
पार्श्वस्थित शोभित हुए
बैठे जहा रघुनाथ।

भरत मानव - श्रेष्ठ देकर
सैन्य को आवास,
चले पैदल देखने
तापस - कुटीर - निवास।

तापसालय मे विलोका
भरत ने वह धाम,
जानकी लक्ष्मण सहित
जिसमे विराजित राम।

भरत तव दौडे रुदित
दुख - मोह से आक्रान्त,
चरण तक पहुचे न भू पर
गिर पडे दुख - भ्रान्त।

'आर्य' ही वस कह सके वे
धर्म मे निष्णात,
कण्ठ गद्गद से न निकली
अन्य कोई वात।

जटा वल्कल सहित उनका
कृश विवर्ण शरीर,
कष्ट से पहचान भेंटे
अक भर रघुवीर।

भरत को तव भेंटकर
शिर सूघकर सप्रेम,
अक मे ले राम ने
पूछा कुशल औ' क्षेम।

—रामायण

१

श्याम घटा जब घिर छा जाती !

घन से भीत बलाको के दल,
निलय खोजते उड़ चलते जब,
खोल पख अपने चल उज्ज्वल !

तब अजकरणी सरिता भाती !

कृष्ण मेघ से हो आतकित,
शिला - कन्दराओ मे आश्रय–
चले खोजने जब बगुले नित,

तब तरगिणी शोभा पाती !

सरिता के युग कूलो वाली,
मेरे गुहा निलय के पीछे
जम्बू की यह सघन द्रुमाली,

किसके मन को नहीं लुभाती !

आज सभीत नही है दादुर,
करते है वन प्रान्त निनादित,
मन्द मन्द ध्वनियो पर तिर-तिर,

उनकी यही घोपणा आती!

'पर्वत की सरिता को तजकर,
आज नही अवसर प्रवास का,
रम्य यही है वास क्षेमकर,

क्षेम मयी यह नदी सुहाती!

—*धम्मिको थेरो*

२

हे वीर श्रेष्ठ यह समय सुखद,
नूतन आशाओं से स्पन्दित।

नव किशलय दल से युक्त द्रुमाली
लगती है अगार - अरुण,
इन तरुओं ने अब त्याग दिए,
वे जीर्ण पत्र के शीर्ण वसन।

कोपलें लाल सी अगणित ले
ये अर्चिष्मान हुए भासित!
नूतन आशाओं से स्पन्दित!

द्रुम सुमन-भार से झुके हुए,
उच्छ्वसित सुरभि से दिग्दिगन्त,
पल्लव झर झर कर करते हैं
फल के हित अपना रिक्त वृन्त!

यह यात्रा का मंगल मुहूर्त है
आज हमारा शुभगन्ति!
नूतन आशाओं से स्पन्दित!

अति शीत रहा अब असह नही,
अति नही उष्णता का प्रसार,
यह समय सुखद है आज वीर,
ऋतु आज हो गई है उदार।

देखे कोलिय औ' शाक्य आप को
पश्चिममुख रोहिणी - तरित।
नूतन आशाओ से स्पन्दित।

—*दसनिपात*

आभा-कण

१

आवेग क्रोध का सके थाम
जो पथ विचलित रथ के समान,
सारथी कहाता वही सत्य
है अन्य रश्मि-ग्राहक अजान।

यह नियम सनातन, एक वैर
करता न दूसरे का अभाव,
निर्वैर भावना से जग में
होता सब शान्त विरोध भाव।

संग्राम-भूमि में जय पाता
कोई कर लाखों को सभीत,
पर सत्य समर-विजयी है वह
जो स्वयं आपको सका जीत।

क्या हास और आनन्द कहा
जलता जाता जो कुछ समीप,
घन अन्धकार से घिर कर भी
तुम क्यों न खोजते हो प्रदीप?

जय उपजाती है द्वेष - द्रोह
औ' पराभूत मे दुख - दाह,
जो हार जीत को तज प्रशान्त
उसका सुखमय जीवन - प्रवाह।

मल्लिका - मलय-कलि - तगर-गन्ध
प्रतिवात कभी, पाता न राह,
दिशि दिशि सज्जन - सौरभ फैला
विपरीत वहा जब गन्धवाह।

—धम्मपद

२

चित्त जिसका हो चुका हो द्वेषमुक्त महान,
सब कही सबके लिए हो सौमनस्य समान,

क्षेम से भर दिगि-विदिशि-भू-अन्तरिक्ष अछोर,
लोक को सस्पर्श कर जो विहरता सब ओर,

हो गया है सत्व जो सब वैर-द्रोह-विमुक्त,
मित्रता की भावना मे एक रस सयुक्त,

एक सीमा मे उसी से आचरित सविशेष,
आचरण त्यो हो न जाता है वही नि शेष,

ज्यो न रुकता शखवादक का तनिक आयास,
दूर तक प्रतिध्वनि जगा भरता विपुल आकाश।

—दीघनिकाय

विराग-गीत

सत्यवादी के मृषा न बोल।

स्निग्ध कुंचित अलकों के गुच्छ
कभी काले थे भ्रमर समान,
जरा के कारण हैं वे आज
विरस सन वल्कल के उपमान।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

मल्लिका के सौरभ से सिक्त
कभी था मेरा वेणीबन्ध,
जरा के कारण उससे आज
शशक रोमों सी आती गन्ध।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

प्रभासित था यह रद-संलाप
सघन रोपित ज्यों हो उद्यान,
जरा से गलित पतित हैं शेष
विरल सा अब पड़ता है जान।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

वहन करता था उन्नत शीश
स्वर्ण भूषित वेणी का साज,
जरा से जर्जर होकर भग्न
झुक रहा है वह मस्तक आज।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

कुशल शिल्पी-कर ने दी आँक
सुभ्रू मानो ये मंजु अनूप,
जरा से जीर्ण झुर्रियों बीच
आज लगती है नमित विरूप।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

नीलमणियों की उज्ज्वल कान्ति
दीर्घ नयनों ने ली थी छीन,
जरा से अभिहत वे ही आज
हो गए धूमिल आभाहीन।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

नासिका मेरी कोमल दीर्घ
शिखर यौवन का पड़ती जान,
वही दब आज जरा के भार
नमित है गलित सभी अभिमान।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

कभी लगते थे श्रवण सुडौल
खरादे सुन्दर वलय समान,
हो गए वही झुर्रियों युक्त
लटकते से हैं आज निदान।

सत्यवादी के मृपा न बोल।

वदलि - कलिकावर्णी थी मंजु,
कभी मेरे दशनों की पांति,
जरा से खण्डित होकर आज
पीन यव की देती है भ्रान्ति।

सत्यवादी के मृपा न बोल।

विपिन - संचारी पिक की कूक
सदृश जो था स्वर का संगीत,
जरा से उसके अक्षर भग्न
पूर्व स्वर - लय है आज अतीत।

सत्यवादी के मृपा न बोल।

खरादे श्वेत शंख सी स्निग्ध
कभी ग्रीवा थी मंजु सुडौल,
वही वृद्धावस्था के भार
नमित सी आज रही है डोल।

सत्यवादी के मृपा न बोल।

कभी थे मेरे बाहु सुगोल
गदा से सुगठित सुन्दर पीन,
जरा के कारण है वे आज
विटप पाडर - शाखा से क्षीण।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

मुद्रिका स्वर्ण आभरण युक्त
कभी थे कोमल मेरे हाथ,
वही है गाठ गठीले आज
जरा की दुर्बलता के साथ।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

पुष्ट उन्नत यह मेरा वक्ष
कभी था सुगठित और सुगोल,
जलरहित चर्म - थैलियो तुल्य
जरा से है अवनत बेडौल।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

कभी था सुन्दर और विशुद्ध
स्वर्ण के फलक सदृश यह गात,
जरा ने आज हुई वह देह
झुर्रियो का विरूप सघात।

सत्यवादी के मृषा न बोल।

कभी मेरा सुन्दर उरु देश
बना था करिकर का उपमान,
जरा के कारण अब वह, शून्य
वश - नलिका सा पडता जान।

सत्यवादी के मृपा न वोल।

स्वर्ण आभरण नूपुरो युक्त
पिंडलिया थी मेरी अपरूप,
शुष्क तिल - डठल सी वे आज
जरा के कारण क्षीण विरूप।

सत्यवादी के मृपा न वोल।

चरण युग मेरे कोमल मंजु,
रहे हल्के ज्यो हल्की तूल,
जरा ने उन्हे वना कर रुक्ष
झुर्रियो से भर दिया समूल।

सत्यवादी के मृपा न वोल।

गठित सुन्दर अगो के साथ
कभी श्रीमय थी मेरी देह,
जरा के कारण ही वह आज
हो गई जर्जर दुख का गेह।

सत्यवादी के मृपा न वोल।

शीघ्र ही ढह कर होता ध्वस्त
जीर्ण गृह जैसे यत्नविहीन,
जरा का गृह भी थोडे यत्न
विना ढह जायेगा हो क्षीण।

सत्यवादी के मृपा न बोल।

—*अम्बपाली*

अश्वघोष

वुद्ध जन्म

१

दीप्तिमय शोभित हुआ वह
धीर ज्योतिर्वेश,
भूमि पर उतरा यथा
वालार्क ले परिवेप।

चकित करके दृष्टि को
उसने लिया यो खींच,
केन्द्र ज्यो वनता नयन का
इन्दु नभ के वीच।

दिव्य अगो से वरसती
स्वर्णदीप्ति अनन्त,
हो उठे भास्वर उसी से
दूर दूर दिगन्त।

सप्त ऋषि मडल सदृश वह
पुज पुज प्रका
धीर दृढ ऋजु चरण से
कर सप्त पग का न्य

अभय सिंह समान उसने
फिर चतुर्दिक देख,
धीर उद्घोषित किया निज
सत्य का आलेख—

'बोध हित है जन्म
भव - कल्याण मेरा लक्ष्य,
लोकहित अन्तिम हुआ
है जन्म यह प्रत्यक्ष।'

२

गिरिराजो से कीलित धरती
हुई तरी सी झंझा-कम्पित,
नभ निरभ्र से वृष्टि हुई नव
पकज - सकुल चन्दन - सुरभित।

दिव्य वसन भू पर फैलाता
सुखद मनोरम वहा समीरण,
रवि ने अति भास्वरता पाई
सौम्य अग्नि जल उठी अनीन्धन।

विहग और मृगदल दोनो ने
रोक दिया कलरव कोलाहल,
शान्त तरंगो मे वहता था
शान्त भाव से सरिता का जल!

शान्त दिशाये स्वच्छ हो गई
नील गगन था स्वच्छ मेघ विन,
पवन-लहरियो पर तिरता था
दिव्य लोक के तूर्यो का स्वन।

—बुद्धचरित

वसन्त

देव । देखो मजरित,
सहकार का तरु,
गन्ध - मधु - सुरभित,
खिला जिसका सुमन - दल,

बैठ जिसमे मधु -
गिरा मे बोलता यह,
लग रहा है हेम -
पजर - बद्ध कोकिल ।

रक्त पल्लव युक्त,
आज अशोक देखो,
प्रेमियो के हित,
सदा जो विरहवर्द्धन,

जान पडता दग्ध -
ज्वाला से विकल हो,
कर रहे उसमे भ्रमर--
के वृन्द कूजन ।

आज उज्ज्वल तिलक-
द्रुम को भेंट कर यह
पीतवर्ण रसाल-
शाखा यों सुशोभित,

शुभ्र वेशी पुरुष के
ज्यों संग नारी
पीत केसर-अंग-
रागों से प्रसाधित।

सद्य ही जिसको
निचोड़ा राग के हित,
वह अलक्तक कान्ति-
शोभी फुल्ल कुरवक,

नारियों की नख-
प्रभा से चकित होकर
आज लज्जा-भार
से मानो रहा झुक!

तीर पर जिसके उगे
हैं सिन्धुवारक
देख कर इस पुष्करिणि
को हो रहा भ्रम,

धवल अशुक ओढ कर
मानो यहा हो,
अगना लेटी हुई
कोई मनोरम।

देव ! आज वसन्त
में हो राग - उन्मद
बोलता है पिक सुनो
टुक यह मधुर स्वर,

और प्रतिध्वनि सी
उसी की जान पडता,
दूसरे पिक का 'कुहू'
मे दिया उत्तर !

मोह से उन्मत्तचित
प्रमदा जनो ने
हाव भावो के चलाये
अस्त्र । अनगिन,

मृत्यु निश्चित सोचता
वह धीर सयत,
हो सका न प्रसन्न
और न खिन्न, उन्मन।

—*बुद्धचरित*

रथ यात्रा

सूत निपुण शुचि वली जहा था
सधे अश्व थे चार नियोजित,
स्वर्ण-घटित सज्जा युत रथ मे
शाक्य कुमार हुए चढ शोभित।

माला वन्दन वार बधे थे
जहा ध्वजाये मारुत-चचल,
उस सज्जित पथ पर बिखरी थी
राशि-राशि सुमनो की कोमल।

नभ पर चढता शनै. शनै. ज्यो,
तारक-दल से घिरा निशाकर,
घिरा सदृश अनुगामिजनो मे
बढता था कुमार उस पथ पर।

दर्शक पौर जनो के दृग थे
विस्फारित औ' भरे कुतूहल।
पथ उनमे शोभित था मानो
नीलोत्पल के बिछे अर्द्ध दल।

पथ पर राज कुमार जा रहे
समाचार भृत्यो से पाकर,
गुरुजन - अनुज्ञात उत्कण्ठित
महिलाये आई छज्जो पर।

पग - चापो से सोपानो पर
झकृत कर रशना - नूपुर - स्वर,
करके भीत गृहो का खग-कुल
वे देती थी दोप परस्पर।

जिनमे, एक बाल का कुण्डल
न्यस्त दूसरी के कपोल पर,
वे छोटे वातायन लगते
वाधे कमल-गुच्छ ज्यो उनपर।

तेजकान्ति से युक्त वपुप को
देख देख कर वे महिला जन,
'इसकी भार्या धन्य हुई है'
कहती थी, पर शुद्ध-भाव-मन।

—बुद्धचरित

उन्नत शृगो की रशना सम
मेघो की छाया मे रह कर,
जाते वर्षाभीत सिद्धजन
आतपमय शिखरो के ऊपर।

गजघाती सिहो के, जाते,
अक जहा हिमधारा से धुल,
नख से बिखरी गजमुक्ता से
दिशि-इगित पाता किरात-दल।

गज - शुण्डो पर लाल विन्दु से
अकित जिन पर लगते अक्षर,
विद्याधर - सुन्दरिया लिखती
प्रेम - पत्रिका भोजपत्र पर।

गुहा-मुखो से उठकर मारुत
करता वेणु - रन्ध्र सब सस्वर,
साथ दे रहा ज्यो गीतो का
गाते जिसे तार स्वर किन्नर।

जब मस्तक खुजलाते है गज,
देवदारु से सघर्षणरत,
उन से बहकर क्षीर सुरभिमय
कर देता शिखरो को सुरभित।

दिवाभीत सा आश्रय पाता
रवि से दूर, गुहा मे घन तम,
शरणागत क्षुद्रो को ममता,
देते हैं महान, सज्जन सम।

चलती है चमरी गाये भी
चन्द्रोज्ज्वल पूछे चचल कर,
पर्वतराज नाम को सार्थक
करती मानो चवर डुलाकर।

गगा-जल-कण-वाहक मारुत
वहता देवदारु कम्पित कर,
फहराता मयूर-पखो को
मृगयारत किरात का श्रमहर।

उच्च सरो से लेने आते
नित सप्तर्षि कमल अर्चन हित,
शेष कंजदल जहा खिलाता
रवि अपनी किरणें कर उन्नत।

देख यज्ञ-सामग्री का घर
उसे धरा-धारण मे सक्षम,
विधि ने उसे यज्ञभागी कर
दिया नगाधिप का पद उत्तम।

—कुमारसम्भव

तपोवन यात्रा

१

गिरा अर्थ सम एक, जगत के
माता पिता उमा वृषकेतु,
वन्दन करता हू मै उनका
गिरा अर्थ साधन के हेतु।

कहा सूर्य-सम्भव सुवश वह
कहा बुद्धि मेरी यह क्षुद्र,
तरने चला मोह के वश मे
डोगी लेकर महा समुद्र।

मन्दबुद्धि कवियश - प्रार्थी मै
मुझ पर आज हसेगा लोक,
दीर्घकरोचित्त फल के हित ज्यो
बौने को उद्‌बाहु विलोक।

अथवा रचा पूर्व कवियो ने
वाक् - द्वार जो यहा विशेष,
वज्रविद्ध मणि मे डोरे सम
पाया मैने सहज प्रवेश।

जो आजन्म शुद्ध है जिनको
देता कर्म सिद्धि का दान,
आसमुद्र धरती के स्वामी
गया स्वर्ग तक जिनका यान,

यथाविहित आहुति देते जो,
यथाकाम याचक को दान,
यथादोष दण्डित करते जो
जिन्हें सतत अवसर का ज्ञान,

त्याग लक्ष्य जिनके संचय का
सत्य अर्थ ही मित भाषण,
यश के लिये विजय-कांक्षी जो
गृही बने सन्तति कारण,

शैशव में विद्या का अर्जन
यौवन में विलास-विभ्रम,
तपोवृत्ति वार्धक्य चाहा था,
योग जन्म का अन्तिम क्रम,

ऐसे रघुकुल के गुण सुनकर
चपल बुद्धि से प्रेरित चित्त,
अल्प गिरा-वैभव लेकर भी
कहता हूँ रघुकुल का वृत्त।

सुनें इसे वे विज्ञ सन्त जन
करते जो सत-असत-विभाग,
खरे और खोटे सुवर्ण की
एक परीक्षक रहती आग।

विज्ञ मान्य वैवस्वत मनु का
हुआ सूर्य कुल मे अवतार,
आदि नृपति वे हुए, वेद मे
जैसे पहली ध्वनि ओकार।

विमल-वश-सम्भूत विमल मति
उसमे हुए दिलीप नरेश,
हुआ क्षीरसागर से जैसे
प्रकट कलाधारी राकेश।

वक्ष विशाल, वृषभ कन्धर औ'
दीर्घ भुजाये शाल समान,
निज कर्तव्य सवहन के हित
क्षात्रधर्म मानो वपुमान।

धरती को घेरे सुमेरु ज्यो
गुरु उन्नत उपमानविहीन,
वैसे ही उसने प्रताप से
लिया सभी का गौरव छीन।

आकृति के अनुरूप बुद्धि थी
शास्त्र - ज्ञान प्रज्ञा अनुसार,
विद्या के अनुकूल कर्म था
औ' प्रयत्न सम फल - सम्भार।

परिजन थे सभीत आकर्षित
नृप-गुण निरख कठिन - कोमल,
भरा हिंस्र जीवो रत्नो से
जैसे हो सागर का तल।

उसकी प्रजा न कर पाती थी
मनु का कोई नियम अलीक,
कुशल सारथी युक्त यान के
चक्र लाघते हैं कब लीक।

ज्यो सहस्र गुण कर लौटाता
धरती को जल सूर्य प्रखर,
प्रजा वर्ग के मगल हित वह
सचित लौटाता था कर।

सेना थी शोभा उसके हित
दो ही थे अमोघ साधन,
चढी हुई शिजिनी और
शास्त्रज्ञ बुद्धि का पैनापन।

इगित से भी गुप्त मन्त्रणा
फल मे ही पडती थी जान,
प्राक्तन संस्कार का जैसे
वर्तमान मे हो अनुमान।

भीति रहित निज सरक्षण था
धीरज सहित धर्म मे योग,
विगत लोभ धन का सचय था
अनासक्तिमय सुख का भोग।

ज्ञान मौन था, क्षमा शक्तिमय
त्याग प्रशंसा से विपरीत,
उसमे हो सहजात गए थे
भिन्न गुणो के द्वन्द्व सनीत।

वीतराग था विपयो के प्रति
विद्याओ मे पारगत,
मिली उसे धर्मानुराग से
वयोवृद्धता जरा रहित।

करके नित सयमन नियोजन
पुत्र समान भरण रक्षण,
हुआ प्रजा का सत्य पिता वह
जनक जन्म के ही कारण।

स्थिति के लिये दण्ड था उसका
सन्तति हित परिणय - समवाय,
अर्थ काम भी थे उसके हित
एक धर्म के ही पर्याय।

यज्ञ हेतु, निधि ले देता वह
मघवा शस्य हेतु जलधार,
दोनो विनिमय से करते थे
दिव - भू दोनो का उपकार।

उस रक्षक राजा का यश था
सवके हित दुष्प्राप्य विशेप,
पर धन-तस्कर के अभाव मे
चोरी रही शब्द मे शेप।

रोगी को औपध समान थे
अरि भी शिप्ट उसे अभिमत,
दुष्ट मित्र का त्याग सुकर था
अगुली ज्यो विपधर से क्षत।

पंच महाभूतों का विधि ने
रचा उसे ही ध्रुव संघात,
तत्वों के सम उसके गुण भी
होते थे परार्थ ही ज्ञात।

वेला का प्राचीर जिसे
घेरे था परिखा बन सागर,
एक छत्र उसके शासन में
पृथ्वी थी ज्यों एक नगर।

मिली उसे पत्नी सुदक्षिणा
कुशला मगध वंश - संजात,
जैसे पाई है अध्वर ने
संगिनि चतुर दक्षिणा ख्यात।

अनुरूपा पत्नी से आत्मज
पाने की थी साध पुनीत,
इच्छित फल से दूर मनोरथ
ही में दिवस रहे थे बीत।

'अब सन्तति है साध्य' सोचकर
सबल भुजा से सहज उतार,
गुर्वी जगत - धुरी का सौंपा
उसने निज सचिवों को भार।

पुत्रैषी दम्पति ने पहले
विधि का कर अर्चना विधान,
तब अपने कुल गुरु वशिष्ठ के
आश्रम ओर किया प्रस्थान।

२

स्निग्ध - मन्द्र रववाले रथ मे
हुए युगल यो प्रतिभासित,
जाते हो पावस के घन पर
जैसे विद्युत् - ऐरावत।

आश्रम मे बाधा के भय से
लिये अल्प सख्यक परिजन,
महिमा - परिवेशित लगते थे
घेरे ज्यो सेना अनगिन।

शाल रसो से सुरभित शीतल
करता तरुओ को कम्पित,
पुष्परेणु बिखराता पथ मे
बहा पवन भी सेवा - रत।

रथ - चक्रो का मन्द्र घोष सुन
हो जाते मयूर उन्मुख,
षड्ज - वादिनी केका की ध्वनि
दुहरा कर देते श्रुति - सुख।

रथ-निबद्ध - दृग खडे हुए जो
मृग के जोडे पथ समीप,
उनमे दृग - सादृश्य परस्पर
देख रहे दक्षिणा - दिलीप।

स्तम्भरहित वन्दनवारो से
पंक्तिबद्ध उडते नभ पर,
उन हंसो को, कलरव सुनकर
उन्मुख देख रहे ऊपर।

सफल मनोरथ के इंगित सा
बहता था अनुकूल पवन,
अश्व-खुरो से उडी हुई रज
छूती नही अलक-वेष्टन।

लहरो के सीकर से शीतल
लेकर कमलो का आमोद,
उनके निश्वासो सा सुरभित
मारुत देता उनको मोद।

स्वयदत्त औ' यज्ञ-यूप युत
पथ-ग्रामो मे पहुच क्षितीश,
अग्निहोत्रियो से पाते थे
अर्घ्योत्तर अमोघ आशीष।

वृद्ध गोप मिलने थे लेकर
गो का नव्य मथित नवनीत,
उनसे पथ के वन्य द्रुमो के
नाम पूछने चले मप्रीत।

पथ चलने शोभा पाने थे
वे परिहित उज्ज्वल परिधान,
हिम-निर्मुक्त योग मे शोभित
चित्रा-शशी इन्दु समान।

पत्नी को पथ मे दिखलाता
वन के विविध दृश्य छविमान,
प्रियदर्शन विज्ञोपम भूपति
कब पथ बीता, सका न जान।

जिसके रथ के अश्व श्रान्त थे
यश जिसका दुष्प्राप्य विशाल,
वह रानीयुत ऋषि-आश्रम मे
पहुचा जाकर सायकाल।

अलख अग्नि से अभिनन्दित मे
वन से ले समिधा - कुश - फल,
जिस आश्रम मे लौट रहे थे
वन से तपस्वियो के दल।

पाला था अपत्य सम जिसको
ऋषि - वधुओ ने दे नीवार,
खडा हुआ था वही हरिण - दल
रूधे पर्णकुटी के द्वार।

थालो मे जल पीने वाले
खग शका से हो न अधीर,
हट जाती थी मुनि - कन्याए
दे कर त्वरित् द्रुमो मे नीर।

आतप जाता देख किये
सचित, आगन मे जिसके कण,
बैठ उसी नीवार-राशि मे
मृग करते थे रोमन्थन।

जिसमे आहुतियो से सुरभित
यज्ञ - अग्नियो से उद्भूत,
धूम, पवन लहरो पर उड उड
अभ्यागत को करता पूत।

'अश्वो को विश्राम मिले' कह
दिया सारथी को आदेश,
पत्नी को रथ से उतार
आश्रम मे उतरा स्वयं नरेश।

रक्षक नीतिविज्ञ राजा को
पत्नी सहित समागत जान,
शिष्ट संयमित मुनिवृन्दो ने
दिया उचित स्वागत सम्मान।

गुरु औ' गुरुपत्नी को नृप ने
देखा सन्ध्या विधि उपरान्त,
यज्ञ अग्नि के साथ यथा
शोभा पाती हो स्वाहा शान्त।

—रघुवंश

जग उठे है करवटे ले
श्रृखलाये खीचते गज,
रक्तिमाभा प्रात की यो
दन्त - कोरक पर रही सज,

आज गैरिक शैल के

आये कही ये तट गिरा कर!
यामिनी बीती सुधीवर!

दीर्घ पटमडप - निवेशी
पारसीक तुरग जागे,
है धरे जिन वाजियो के
लेह्य सैन्धव - खण्ड आगे,

अव मुखो की श्वास-ऊष्मा

से रहे उनको मलिन कर!
यामिनी बीती सुधीवर!

म्लान है अव सुमन के उपहार
लगती विरल रचना,
खो चुके है दीप जगमग
किरण का परिवेप अपना,

वद्धपजर मजुभापी

कीर यह दुहरा रहा स्वर!
यामिनी बीती सुधीवर!

× × ×

सुप्रतीक जो देवों का गज
निद्रित नभ गंगा-सिकता पर,
जाग उठा हो ज्यों हंसों की
मद से पटु कलरव ध्वनि सुनकर,

वैसे ही वैतालिक जन के
छन्द रचित वचनों को सुन अज,
विगतनिद्र हो गया प्रात में
दी उसने अपनी शैया तज।

सुन्दर अक्षि-पक्ष्मशोभी वह
सुप्रभात-विधियाँ कर विधिवत,
गया स्वयंवर-राजसभा में
कुशल सेवकों द्वारा सज्जित।

—रघुवंश

अज विलाप

सुमन के भी स्पर्श से जब
प्राण तन को छोड जाता,
मारने के हित न साधन
कौन सा पाता विधाता!

या मृदुल के अन्त हित विधि
खोजता साधन सुकोमल,
है मुझे अनुभव, न हिम का
भार सहते कमलिनी - दल!

प्राणहर माला न हरती
प्राण मेरा रह हृदय पर,
अमृत को विप, विष सुधा सम
दैव की इच्छा रही कर।

अशनिपात इसे किया या
दैव ने दुर्भाग्य के हित,
छोड जिसने द्रुम दिया लतिका
गिरा दी पर तदाश्रित!

सुमनमय, कुंचित भ्रमर सी
कृष्ण अलकें वातचंचल,
तुम उठोगी सोचते हैं
प्राण मेरे विरह - आकुल।

बन्द निशि में मौन अलियों—
युत अकेले कंज सा मुख,
लोल अलकों से घिरा नीरव
मुझे अब दे रहा दुख।

विरह सहकर इन्दु निशि औ'
चक्रवाक मिथुन मिले फिर,
हन्त निरवधि, विरह मेरा
दग्ध इससे क्यों न हो उर!

किशलयों की सेज पर भी
सुतनु! तुम पाती नहीं कल,
अब चितारोहण कहो कैसे
सहेंगे अंग कोमल!

शून्यगति तुम, रहसनगी
मेखला अब है न मुखरित,
देख चिर निद्रा तुम्हारी
शोक से मानो हुई मृत!

पा गया तव मधु गिरा पिक
हंसिया गति मदिर अलसित,
लोल चितवन हरिणियां
विभ्रम लताएं वात - कम्पित।

चाह थी सुरलोक की,
मुझको न पर छोड़ा अकेला,
सत्य ही निज गुण यहा
तुम रख गई हो गमन - वेला!

पर विरह की गुरु व्यथा से
यह हृदय है भार - बोझिल,
दे नही पाते इसे ये आज
कुछ अवलम्ब सम्बल।

आम्र और प्रियगु का तुमने
किया था युग्म निश्चित,
बिना शुभ परिणय इन्हे
क्या छोड जाना आज समुचित?

चरण से छूकर जिसे तुमने
किया था सफल दोहद,
फूल कर जब वह अशोक
नवल सुमन से जायगा लद,

केश - रचना मे कभी जो
काम आते कुसुम नूतन,
किस तरह उनकी तिलाजलि
दे करूगा सुमुखि! तर्पण!

धृति गई, आनन्द गत, सगीत
नीरव, ऋतु निरुत्सव,
निष्प्रयोजन आभरण,
शयनीय मेरा शून्य है अब!

स्वामिनी गृह की रही तुम
मन्त्रणा में सचिव तत्पर,
कक्ष के एकान्त में मेरी
तुम्हीं प्रिय संगिनी वर।

तुम कलाओं में ललित
मेरी रही शिष्या प्रवीणा,
निष्करुण यम ने तुम्हीं को
छीन क्या मेरा न छीना!

प्रिय-विरह-व्याकुल नृपति के
मर्म करुण विलाप का स्वर,
सुन लगे रोने विटप रस-अश्रु
शाखा से गिरा कर।

—रघुवंश

प्रत्यागमन

देखो सुमुखि ! सेतु से मेरे
भिन्न मलय तक फेनिल सागर,
छायापथ से ज्यो विभक्त हो
शरद-प्रसन्न तारकित अम्बर।

आदि वराह रसातल से जब
पृथ्वी को लाये थे ऊपर,
प्रलय-प्रवृद्ध स्वच्छ जल इसका
बना धरा का घूघट क्षण भर।

तुग तरगो से भुजग ये,
तट पर निकले वायुपान हित
ज्ञात हुये जब रवि किरणो ने
फण-मणिया कर दी उद्भासित।

मूगो की श्रेणिया लाल है
देवि, तुम्हारे ज्यो अरुणाधर !
वेगवती लहरे जाती है
शख-दलो को गिरा इन्ही पर।

तीक्ष्ण अनीवाले शिखरो पर
निपतित, विद्धमुखो को लेकर,
कष्ट सहित ही शङ्खयूथ यह
जल मे फिर संचरण रहा कर।

घूम रहे आवर्त्त वेग मे
जल लेने के लिए झुके घन,
लगता है मानो करता है
मन्दर फिर सागर का मन्थन।

लोह - चक्र - रेखा सी तन्वी
ताल - तमाल वनो से श्यामल,
जंग लगी ज्यो धार दीखती
दूर सिन्धु की वेला निश्चल।

इस तट पर आने मे हमको
यान - वेग से लगा निमिष भर,
फल - भारानत पूग, सीपियों
से बिखरे मुक्ता सैकत पर।

मृगनयने! करभोरु! पथ पर
अपने पीछे तो देखो दूर,
निकल रही दूरस्थ सिन्धु से
धरा वनों के साथ अचानक।

नभ - गगा - तरग - चल - शीतल
व्योमपवन, सुरगज-मद-सुरभित,
पीता, तव मुख-स्वेद-कणो को
जो मध्याह्न ताप से उत्थित।

चण्डि ! कुतूहल से छूती हो
घन को जब फैला अपना कर,
वलयाकार तडित् मिस मानो
ककण नव पहनाता जलधर।

चिर परित्यक्त आश्रमो मे निज
सुख से लौट बसे तापस जन,
अब निर्विघ्न जान कर जनपद
उटजो मे रच रहे तपोवन।

—*रघुवश*

संगम

सुतनु! देखो पुण्यसलिल-प्रवाहिनी अभिराम,
भिन्न जल को कर रही यमुना-तरंगें श्याम।

दृष्टिगत मुक्तावली सी है कहीं अवदात,
अन्तरित नीलम जिसे करते प्रभा से स्नात।

पुंडरीकों से गुथी ज्यों शुभ्र माला एक,
कर रहे चित्रित जिसे नीले सरोज अनेक।

मानसर-प्रिय हंसकुल की दे रही है भ्रान्ति,
पंक्ति में जिनकी मिले कलहंस धूमिल कान्ति।

श्वेत चन्दन-रचित भू-मुख का यथा शृंगार,
अगुरु-रेखा-चित्र करते श्यामता सञ्चार।

शबल जिनको कर रहा है तिमिर छायालीन,
विमल विधु की विहँसती हो ज्यों विभा विस्तीर्ण।

शारदी सित मेघ का देती कहीं आभास,
झाँकता है रन्ध्र से जिनके सुनीलाकाश।

हो यथा शिवगात रजितभूति उज्ज्वल अंग,
कर रहे जिसको अलंकृत असितवर्ण भुजंग।

—रघुवंश

सरयू

यह वही सरयू, सदा मेरे लिए जो मान्य,
धाय उत्तर कोशलो की एक जो सामान्य।

पुष्ट होते वे इसी की खेल सिकता - गोद,
वृद्धि पाते है मधुर पय - पान से सामोद।

स्वामि से विरहित हमारी जननि ही सी म्लान,
मान्य भूपति रहित सरयू आज पडती जान।

पवनशीतल इन तरगो के उठा कर हाथ,
दूर ही से भेटती है आज मेरा गात।

× × ×

कहते ही इस भाति, दाशरथि का उर-अभिमत,
जान गया पुष्पक - रथ का चालक अधिदैवत।

देख रहे जब भरत प्रजा परिजन विस्मित से,
उतरा धरती पर विमान वह ज्योतिष्पथ से।

—रघुवश

सन्देश

आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया!

ज्यों गजेन्द्र क्रीडा में तन्मय
टकराता टीलों से निर्भय,
शैल शिखर - संलग्न मेघ
वैसे ही घिर छाया।

आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया!

स्नेह जगा देने वाले के,
सम्मुख हो बादल काले के,
रोक आंसुओं को कुबेर का
अनुचर [illegible]।

आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया

करके सुमन कुटज के सचित
घन को किया अर्घ्य से अर्चित,
प्रीति-वचन से कह शुभागमन,
विरही हर्षाया!

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

धूम-ज्योति-जल-वायु-सवलित
कहा जलद का गात सघटित,
कहा सँदेसा जिसे चतुर जन
ही पहुचा पाया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

समझा यक्ष न बेसुधपन से,
करने लगा याचना घन से,
मोहमुग्ध ने जडचेतन का
भेद नही पाया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

'सतप्तो के शरण वलाहक!
ले जाओ सन्देश प्रिया तक
मेरा, जिसकी धनद-कोप से
विरह - तप्त काया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

मन्द मन्द गति से सचारण
करता है अनुकूल समीरण,
बाई ओर व्रती चातक ने
मधु - स्वर मे गाया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

गई धरा जिससे उर्वर बन,
हुए अकुरित छत्रक अनगिन,
गर्जन तेरा सुखद आज
हसो ने सुन पाया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

सम्बल कमल-नाल का लेकर
आकैलाश रहेंगे सहचर,
राजहस ये उत्सुक जिनको
मानस सर भाया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

कभी मिलन के अवसर पाता
जो गिरि तुमसे स्नेह जताता,
तुमको जिसने मेघ उष्ण
आसू से नहलाया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

वन्द्य राम-पद से चिह्नित जो,
पर्वत तुमसे आलिंगित जो,
उस सगी से आज विदा
लेने का क्षण आया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।

इन्द्र धनुष से सज्जित श्यामल
वपु यो छवि पा लेगा बादल,
मोर मुकुट युत गोपालक ही
उतर यथा आया।

आषाढ मास का
प्रथम दिवस आया।'

—मेघदूत

शरद

मंजुल शरद वधू सी आई।

फूले हुए कास का अंशुक,
विकचित कमलों में मनोज्ञ मुख,
उन्मद हंस-स्वरों में नूपुर,
पके शालियों में नत उसकी

देह-यष्टि सब के मन भाई।

भू पर कास निशा में शशधर,
नदी हंसमय, कुमुदोमय सर,
सप्तपर्ण फूले हैं बन बन
उपवन में भर फुल्ल मालती

जग में उज्ज्वल दीप्ति बिछाई।

रशना रम्य मछलियाँ चंचल,
हार हुआ तट का सित खगकुल,
अब पुलिनालसनितम्बिनि मनहर
नदियाँ भी बहती हैं मन्थर

प्रमदा की गति मन्द सुहाई।

वसन्त

१

सूर्य उत्तर मुख हुआ
दक्षिण दिशा का छोड,
अरुण सारथि ने तभी
ली अश्व-वल्गा मोड।

दूर कर हिम प्रात का,
कर शीत का अवसान,
दीप्त करके मलयगिरि,
रवि ने किया प्रस्थान।

प्रथम फूले सुमन फिर ये
कोपले सुकुमार,
फिर विपिन मे छा गया
अलि - वृन्द का गुजार।

प्रकट पचम मे पिकी का
तब हुआ उल्लास,
शनै वन - भू मे किया
ऋतुराज ने पगन्यास।

भ्रमर - दल, अंजन - रचित
पत्रावली का जाल,
तिलक - सुमनों का लगाया,
तिलक अपने भाल।

बाल - रवि रक्तिम सुकोमल
ले रसाल प्रवाल,
माधवी - श्री ने किये,
मानो अधर निज लाल।

—ऋतुसंहार

२

आये अब मधु - वासर नूतन !

जब कम्पित कर जाती वतास,
लपटे लगते फूले पलाश,

किशुक - सज्जित भू नवल वधू,
पहने ज्यो रक्ताशुक शोभन !

चचल रसाल - शाखाये कर,
दिशि दिशि मे फैला कोकिल - स्वर !

हिमपात रहित इस मधु दिन मे,
बह रहा वात हरता जन - मन !

जिनके शिखरो पर तरु कुसुमित,
गुजित अलि-पिक के राग अमित,

वे अचल शिलाओ से सकुल,
कर रहे दृष्टि का अभिनन्दन !

जिस मे बहता है मलय वात,
पिक करता जिसको राग-स्नात,

सुरभित मधुवर्षी अलि-वेष्टित,
वर ऋतु यह तुमको करे प्रसन!

सहकार - मंजरी जिसके शर,
किंशुक ही जिसका चाप सुघर,

भ्रमरों की पंक्ति शिंजिनी है,
उन्मद गज जिसका मलय पवन,

पिक वैतालिक, विधु-श्वेत छत्र,
जो अतनु जीतता विश्व अखिल!

सखी वसन्त का यह अनग,
करदे तुमको मंगल वितरण!

—ऋतुसंहार

ग्रीष्म

ग्रीष्माकुल मयूर बैठा है
तरु के आलवाल मे शीतल,
कर्णिकार का मुकुल भेद कर
छिपना चाह रहा अलि चचल।

तप्त वारि तजकर जल-कुक्कुट
बैठा तटनलिनी छायातल,
क्रीडा-गृह के पजर का शुक
क्लान्त भाव से माग रहा जल।

--विक्रमोर्वशी

वर्षा

विद्युत् से स्वर्णाभ मेघ ही छत्र मनोहर,
निचुल डुलाता मंजरियों के मुझ पर चामर।

विगतताप कलमुखर शिखी मेरे बन्दीजन,
निर्झर-मुक्ता भेंट दे रहे शैल प्रजागण।

—विक्रमोर्व

विदा

आज विदा होगी शकुन्तला
सोच हृदय आता है भर-भर,
दृष्टि हुई धुधली चिता से
रुद्ध अश्रु से कण्ठ रुद्धस्वर।

जब ममता मे इतना विचलित
व्यथित हुआ वनवासी का मन,
तब दुहिता विछोह नूतन से
पाते कितनी व्यथा गृहीजन!

गृहण किया था कभी न जिसने
तुम्हे पिलाये बिना स्वय जल,
मण्डनप्रिय होने पर भी जो
नही स्नेह से तोड सकी दल,

जन्म तुम्हारे नव मुकुलो का
जिसके हित होता था उत्सव,
वह शकुन्तला जाती पतिगृह
आज अनुज्ञा दो इसको सब।

जिसका कुश से विद्ध देख मुख
इंगुदि-तैल लगाया क्षत-हर,
सावा कण दे पाला सुत सम
खड़ा हरिण वह राह रोक कर।

जिनने उत्पक्ष्मण तेरे दृग
देख न पाते पथ नत-उन्नत,
धीरज धरकर अश्रु पोंछ ले
विषम-भूमि, हो चरण न विचलित।

, , ,

कमल वनों से हरित सरोवर
मिले पथ में रम्यान्तर हों,
छाया सहित पथ के द्रुम भी
रवि-किरणों के आतपहर हों,

सरसिज के कोमल पराग सा
मृदुल पथ का धूलि-निचय हो,
शान्त और अनुकूल पवन से
यह तेरा पथ मंगलमय हो।

—अभिज्ञानशाकुन्तल

दण्डकारण्य

१

कहीं रुक्ष विस्तार घोर से
कहीं स्निग्ध श्यामल लगता वन,
कर देते हैं मुखर दिशायें
यत्र तत्र ये निर्झर के स्वन।

तीर्थाश्रम कान्तार युक्त ये
पर्वत गर्त्त नदी से शोभित,
लगते हैं दण्डकारण्य के
भूमिभाग ये मुझको परिचित।

कहीं स्तब्ध औ' नीरव है वन
कहीं वन्य जीवों से गर्जित,
स्वेच्छा-गुप्त विशाल फणों युत
उरगों के निश्वास प्रज्ज्वलित।

वनप्रान्तर के लघु गर्तों में
अल्प बिन्दु हैं स्वच्छ बचा जल,
अजगर के प्रस्वेद कणों को
पीते गिरगिट वहां तृषाकुल।

२

मत्त विहग-सकुल वानीरो के सुमनो से
जिनका शीतल स्वच्छ सलिल होता है सुरभित,
पक्व फलो से श्यामल जम्बू के कुजो मे
धाराओ मे वंट वे निर्झर मुखर प्रवाहित।

गुहा निवासी यहा तरुण भल्लूको का रव
प्रतिध्वनियो से होता है गम्भीर प्रसारित,
सौरभ फैला शीत तिक्त सल्लकी द्रुमो का
जिनकी शाखा-ग्रन्थि गजो से हुई विदारित।

ये वे ही गिरि मुखर, मयूरो की केका से
वनस्थली है वही मत्त हरिणो से सकुल,
जहा निचुल पादप जल मे गहरे डूबे है
वही नदी तट जहा मजु लतिकाये वजुल।

गोदावरी नदी बहती जिसके प्रान्तर मे
दीख रहा है वही यहा से पर्वत प्रस्रवण,
जो होकर भी दूर भ्रान्ति देता समीप की
मेघो की माला सा है जिसका नीलापन।

जिसका उन्नत शिखर वास था गृध्रराज का
नीचे हम थे पर्णकुटी वासी आनन्दित,
वह वनान्त था रम्य, ध्वनित खगकुल कूजन से
करती गोदावरी हरित तरुश्री प्रतिबिम्बित।

जहा कभी था स्रोत वहा सिकता का तट है
तरुओ के घन-विरल भाव भी है परिवर्तित,
कालान्तर मे देखा वन लग रहा अन्य सा
विपिन वही विश्वास दे रहे स्थिति मे पर्वत।

क्रौञ्चावत गिरि यही जहा कीचक-कुजो के
मर्मर से मिल रहा उलूको का कर्कश-रव,
बैठ नीड मे कुजो के जो बोल रहे है
सुन जिनको काको का कुल हो जाता नीरव।

यहा घूमते है मयूर जिनकी केका से
हो जाता है उरग-वृन्द उद्वेलित चचल,
चट पुराण चन्दन् वृक्षो की शाखाओ पर
लिपटे विषधर यहा मयूरो के भय-विह्वल।

—उत्तररामचरित

राम

१

दलित उर को कर रहा है घोर दुख का वेग,
पर नही दो खण्ड हो जाता हृदय यह टूट।
शोक-मूर्च्छित हो रही है विकल मेरी देह,
चेतना से, किन्तु यह पाती नही है छूट।

दग्ध करता गात मेरा तीव्र अन्तर्दाह,
किन्तु उसको कर न पाता वह जलाकर क्षार।
नियति मेरे मर्म पर करती कठिन आघात
काटती है, किन्तु वह मेरा न जीवन-तार।

तोड सयम कष्टकर जो वह चली निर्बन्ध
क्षुब्ध होकर वेदना की यह सवेग तरग,
फैलती है चेतना पर, ज्यो प्रचण्ड प्रवाह
वेग मे दुर्वार करता सेतु सैकत भग।

यत्नों के कारण जिसमें थे
विविध विनोद भाव भी सम्भव,
वीरों के संघर्ष जगाते
जगती में अद्भुत रस अभिनव।

सुग्रीवों का पूर्ण विग्रह था
शत्रुनाश तक ही परिसीमित,
कैसे मूक विरह यह झेलूं
जो निरुपाय, अवधि से विरहित!

जहां व्यर्थ सुग्रीव सख्य है
कपियों का भी व्यर्थ पराक्रम,
जाम्बवान की प्रज्ञा निष्फल
मारुति की गति नहीं जहां पर,

जहां विश्वकर्मा सुत नल भी
मार्ग बनाने में है अक्षम,
प्रिये! कहां हो, जग पढ़ने
में असफल हैं [illegible] रे मन?

राम

१

दलित उरको कर रहा है घोर दुख का वेग,
पर नही दो खण्ड हो जाता हृदय यह टूट।
शोक-मूर्च्छित हो रही है विकल मेरी देह,
चेतना से, किन्तु यह पाती नही है छूट।

दग्ध करता गात मेरा तीव्र अन्तर्दाह,
किन्तु उसको कर न पाता वह जलाकर क्षार।
नियति मेरे मर्म पर करती कठिन आघात
काटती है, किन्तु वह मेरा न जीवन-तार।

तोड सयम कष्टकर जो बह चली निर्बन्ध
क्षुब्ध होकर वेदना की यह सवेग तरग,
फैलती है चेतना पर, ज्यो प्रचण्ड प्रवाह
वेग मे दुर्वार करता सेतु सैकत भग।

२

यत्नों के कारण जिसमें थे
विविध विनोद भाव भी सम्भव,
वीरों के संघर्ष जगाते
जगती में अद्भुत रस अभिनव।

मुग्धाक्षी का पूर्व विरह था
अनुराग तक ही परिसीमित,
कैसे मूक विरह यह झेलूं
जो निरुपाय, अवधि से विरहित!

जहां व्यर्थ सुग्रीव सख्य है
कपियों का भी व्यर्थ पराक्रम,
जाम्बवान की प्रज्ञा निष्फल
मारुति की गति नहीं जहां पर,

जहां विश्वकर्मा सुत नल भी
मार्ग बनाने में है अक्षम,
प्रिये! कहां हो, जहां पहुंचने
में असफल हैं लक्ष्मण के शर?

एक करुण रस ही निमित्त वश
विविध भाव मे जाता है ढल,
ज्यो आवर्त्त वीचि वुदवुद मे,
परिवर्त्तित हो एक रहा जल।

—उत्तररामचरित

मंगलाचरण

'तिमिराच्छन्न गगन को करते
घिरते आते हैं यह बादल,
घन तमाल वृक्षों की छाया-
से वन-भू लगती है श्यामल।

रजनी के तम में होता है
यह गोपाल भीति से उन्मन,
राधे! इसे धाम पहुँचा दे,'
नन्द महर से पा निर्देशन,

यमुना-तट के कुंज-पथों पर
जो चल देते स्नेह-मग्नमन
उन दोनों राधा माधव की
जयति सदा मधु-क्रीड़ा पावन!

—गीत गोविन्द

गीत

छाया सरस वसन्त विपिन मे,
करते श्याम विहार!

युवति जनो के सग रास रच
करते श्याम विहार।

ललित लवग लताये छूकर
वहता मलय समीर,
अलि-सकुल पिक के कूजन से
मुखरित कुज-कुटीर,

विरहि-जनो के हित दुरन्त
इस ऋतुपति का सचार।

करते श्याम विहार।

जिनके उर मे मदन जगाता
मदिर मनोरथ-भीर,
वे प्रोपित पतिकाये करती
करुण विलाप अधीर,

वकुल निराकुल ले मुमनो पर
अलिकुल का सम्भार।

करते श्याम विहार।

मृगमद के सौरभ सम सुरभित
नव पल्लवित तमाल;
तरुण जनों के मर्म विदारक
मनसिज नख से लाल—
किंशुक के तरुजाल कर रहे
फूलों से शृंगार!
करते श्याम विहार!

राजदण्ड स्वर्णिम मनसिज का
केशर-कुसुम-विकास,
स्मर-तूणीर बना है पाटल
लेकर भ्रमर-विलास।
करता है ऋतुपति दिगन्त में
वासन्ती विस्तार!
करते श्याम विहार!

विगलित-लज्जा जग कहता है
तरुण करुण उपहास,
कुन्तमुखाकृतिमयी केतकी
फूल रही सोल्लास,
विरहिजनों के हृदय निकृन्तन
में जो है दुर्वार!
करते श्याम विहार!

ललित माधवी परिमल से,
मल्लिका-सुमन-अभिराम,
मुनियो का मन भी कर देता
यह ऋतुराज सकाम,

वन्धु अकारण यह तरुणो का
आकर्पण - आगार!

करते श्याम विहार!

भेट लता अतिमुक्त, मजरित
पुलकित विटप रसाल,
तट पर भरा हुआ यमुनाजल
रहा जिसे प्रक्षाल,

वह वृन्दावन पूत हो रहा
पा अभिपेक उदार!

करते श्याम विहार!

इसमे है श्रीकृष्ण - चरण की
मधु स्मृतियो का सार,
मधुर वसन्त - कथा मे मनके,
भाव मदन अनुसार,

श्री जयदेव रचित रचना यह
शब्दो मे साकार!

करते श्याम विहार!

—*गीत गोविन्द*